# भूमिका

"प्रयन की सखी कहतु है। जो गोपीजन के चरण विषै सेवक की दासी करि जो इनको प्रेमासव में डूबि कै इनके मंद हास्य ने जीते हैं। अमृत-समूह ताकरि निकुंज विषै शृंगार रस श्रेष्ठ रसना कीनो सो पूर्ण होत भई।"

इसी काल (सं० १६२५–१६५०) के कुछ गद्य-ग्रंथ और भी मिलते हैं— गोस्वामी गोकुलनाथ के तीन ग्रंथ—'चौरासी वैष्णवों की वार्ता,' 'दो सौ बावन वैष्णवों की वार्ता' और 'वन-यात्रा'। ये वैष्णव लोग भिन्न-भिन्न श्रेणी के तथा भिन्न-भिन्न प्रांतों के निवासी थे; अतएव इनका वर्णन करते हुए गोस्वामी जी ने ब्रज-भाषा के अतिरिक्त अरबी, फ़ारसी, गुजराती, पंजाबी, मारवाड़ी आदि भाषाओं के अनेक शब्दों का प्रयोग भी किया है।

इसी शताब्दी में गंगभाट और नाभादास हुए। गंगभाट ने 'चंद छंद बरनन की महिमा' लिखी (सं० १६२७) और नाभादास ने 'अष्टयाम'। इन दोनों के बाद गोस्वामी तुलसीदास का प्रादुर्भाव हुआ। गोस्वामी जी की प्रसिद्धि कवि के रूप में है, आपका गद्य-ग्रंथ तो कोई मिला नहीं।

इसी शताब्दी में सं० १६८० में जटमल द्वारा 'गोरा बादल की कथा' [लि]खी गई। इसकी भाषा में खड़ी बोली की पुट पाई जाती है, जैसा कि [...]क उद्धरण से स्पष्ट होगा —

"गोरे की आवरत आवे सो वचन सुनकर आपने पावंद की पगड़ी [...] में लेकर वाहा सती हुई सो सिवपुर में जाके वाहा दोनो मेले हुए। [...] बादल की कथा गुरु के बस सरस्वती के महरबानगी से पूरन [...]न वास्ते गुरु कूँ व सरस्वती कूँ नमस्कार करता हूँ। ये कथा [...]ी साती के साल में फागुन सुदी पुनम के रोज बनाई। ये कथा

मगर की भाषा से स्पष्ट है कि "खड़ी बोली उर्दू से स्वतंत्र होने की चेष्टा आरंभ से ही करने लग गई थी।" यह कहना भूल है कि उर्दू ही उन दिनों जनता की भाषा थी। भाषा का नमूना नीचे दिया जाता है:—

"जो बात सत्य होय उसे कहा चाहिए, कोई बुरा माने कि भला माने। विद्या इस हेतु पढ़ते हैं कि तात्पर्य इसका (जो) सतोवृत्ति है वह प्राप्त हो और उससे निज स्वरूप में लय हूजिए। इस हेतु नहीं पढ़ते हैं कि चतुराई की बातें कहके लोगों को बहकाइए, और फुसलाइए और सत्य को छिपाइए, व्यभिचार कीजिए और सुरापान कीजिए और धन द्रव्य इकठौर कीजिए और मन को, कि तमोवृत्ति से भर रहा है, निर्मल न कीजिए। तोता है सो नारायण का नाम लेता है, परन्तु उसे ज्ञान तो नहीं है।"

सं० १८५५-६० के मध्य सैयद इंशाअल्लाखाँ ने 'रानी केतकी की कहानी' लिखी। आपने 'कहानी' को शुद्ध हिंदी—खड़ी बोली—में लिखने का प्रयत्न किया। इनकी भाषा बड़ी चटकीली और मुहावरेदार है तथा उसमें चुलबुलाहट और अनुप्रासों की भरमार है। आपने यह कहानी इसी लिए लिखी थी कि "जो मेरे दाता ने चाहा तो वह ताव-भाव और कूद-फाँद, लपट-झपट दिखाऊँ जो देखते ही आपके (पाठक के) ध्यान का घोड़ा अपनी चौकड़ी भूल जाय' अर्थात् अपनी भाषा के चमत्कार से पाठक-वृंद को चकित करना ही आपका उद्देश्य था। आपकी 'कहानी' लिखी तो गई उर्दू-लिपि में थी, परन्तु भाषा 'हिंदी' (अर्थात् संस्कृत-पूर्ण हिंदी) को छोड़ और किसी बोली की पुट से रहित है, जैसा कि निम्न उद्धरण से विदित होगा.—

"जब कुँवर उदैभान को वे इस रूप से व्याहने चढ़े और वह बाम्हन जो अँधेरी कोठरी में मुँदा हुआ था उसको भी साथ ले लिया और बहुत से हाथ जोड़े और कहा 'बाम्हन देवता, हमारे कहने सुनने पर न जावो, तुम्हारी जो रीत चली हुई आई है बताते चलो।' एक उड़न-खटोले पर वह भी रीत बता के साथ हो लिया।" राजा इन्दर और महेन्दरगिर ऐरावत हाथी पर झूलते-झालते देखते-भालते चले जाते थे। राजा सूरजभान दूल्हा के घोड़े के साथ माला जपता हुआ पैदल था। इसी में एक सन्नाटा हुआ। सब घबरा गए। उस सन्नाटे में जो वह १० लाख अतीत थे सब जोगी से बने हुए सब माले मोतियों की लड़ियों के गले में डाले हुए और गातियाँ उसी ढब की बाँधे हुए मिरिगछालों और बघंबरों पर आ ठहर गए। लोग के जियों में जितनी उमंग छा रही थी वह चौगुनी पचगुनी हो गई। सुखपाल और चंडोल और रथों पर जितनी रानियाँ थीं महारानी लछमीवास के पीछे चली आतियाँ थीं।"

लल्लूलाल (सं० १८२०-१८८२) ने फोर्ट-विलियम कालेज के अध्यक्ष जान गिल क्रिस्ट के कहने पर प्रेम-सागर लिखा। इसके अतिरिक्त आपने चार और गद्य-ग्रंथ भी लिखे—'सिंहासन-बत्तीसी', 'बैताल-पचीसी', 'शकुंतला नाटक' और 'माधोनल'। प्रेम-सागर की भाषा में उर्दू-शब्दों तथा मुहावरों का नाम तक नहीं है, बल्कि आद्योपात शुद्ध ब्रज-भाषा की धूम है,

[illegible] उद्धरण से स्पष्ट होगा:—

जी बोले-राजा जिस समय श्री कृष्णचन्द्र जन्म लेने लगे सब ही के जी में ऐसा आनन्द उपजा कि दुःख नाम को भी [illegible]। हर्ष से बन उपबन लगे हरे हो-हो फलने फूलने, नदी नाले

सरोवर भरने, तिन पर भाँति भाँति के पक्षी कलोलें करने और नगर-नगर गाँव-गाँव घर-घर मंगलाचार होने, ब्राह्मण यज्ञ रचने, दशो दिशा के दिक्पाल हर्षने, बादल ब्रजमण्डल पर फिरने, देवता अपने-अपने विमानों मे बैठे आकाश से फूल वर्षाने, विद्याधर, गंधर्व, चारण, ढोल दमामे भेरी बजाय-बजाय गुण गाने लगे, और एक ओर उर्वशी आदि सब अप्सरा नाच रहीं थीं कि ऐसे समय भादों वदी अष्टमी बुधवार रोहिणी नक्षत्र में आधी रात को श्री कृष्णचन्द्र ने जन्म लिया, और मेघवर्ण, चन्द्रमुख, कमलनयन हो, पीताम्बर काछे मुकुट धरे, वैजन्ती-माल और रत्न-जटित आभूषण पहरे चतुर्भुज रूप किये शंख चक्र गदा पद्म लिये वसुदेव देवकी को दर्शन दिया। देखते ही अचम्भे में ही उन दोनों ने ज्ञान से विचारा तो आदि पुरुष को जाना, तब हाथ जोड विनती कर कहा—हमारे बड़े भाग्य जो आपने दर्शन दिया और जन्म मरण का निवेडा किया।

इतना कह पहिली कथा सब सुनाई, जैसे-जैसे कंस ने दुःख दिया था। तब श्री कृष्णचन्द्र बोले—तुम अब किसी बात की चिन्ता मन में न करो; क्योकि मैंने तुम्हारे दुःख दूर करने ही को अवतार लिया है, पर इस समय मुझे गोकुल पहुँचा दो, और इसी बिरियाँ यशोदा के लड़की हुई है, सो कंस को ला दो, अपने जाने का कारण कहता हूँ सो सुनो।

दो०—नन्द यशोदा तप कियो, मोही सो मन लाय।
देख्यो चाहत बाल सुख, रहौं कछू दिन जाय॥

फिर कंस को मार आन मिलूँगा, तुम अपने मन में धैर्य धरो,

ऐसे वसुदेव देवकी को समझाय श्री कृष्ण बालक बन रोने लगे और अपनी माया फैला दी।"

सिंहासनबत्तीसी आदि की भाषा प्रेम-सागर से भिन्न है। इनमें आपने आवश्यकतानुसार हिंदी, उर्दू, फारसी आदि के शब्दों का प्रयोग किया है।

इस समय आरा-निवासी सदलमिश्र (सं० १८२४–१९०५) ने उपर्युक्त गिल क्रिस्ट साहब के आदेशानुसार 'नासिकेतोपाख्यान' लिखा। आपकी भाषा प्रेम-सागर की भाषा से भिन्न है। आपकी भाषा व्यवहार में आने वाली खड़ी बोली है। व्रज-भाषा के शब्दों के संमिश्रण के साथ-साथ इसमें उर्दू शब्दों का भी प्रयोग दिखाई देता है। नीचे आपकी भाषा का नमूना दिया जाता है :—

ऐसे कहते हुए वहाँ से तुरन्त हर्षित हो उठे। वो भीतर जा मुनि ने जो आश्चर्य बात कही थी, सो पहिले रानी को सब सुनाई। वह भी मोह से व्याकुल हो पुकार पुकार रोने लगी वो गिड़गिड़ा कहने कि महाराज! जो यह सत्य है तो अब ही लोग भेज...झट उसको बुला ही लीजिए, क्यों कि मारे शोक के मेरी छाती फटती है।.. ...आनन्द बधावा बाजने लगा। हर्षित हो नरेश ने वहाँ से सभा में जा ऋषि से कहा कि महाप्रभु! आपने मेरा बड़ा कलंक मिटाया है। इस आनन्द का कुछ पारावार नहीं। अब निचिन्त हो इहाँ विराजिए, कन्या मँगा आपको मैं दूँगा। ऐसे कह तुरन्त सेवकों के सहित पालकी भेज नाती समेत बेटी को बन से मँगा लिया। ...भीतर बाहर नृप के मन्दिर में भारी मोद के उथल पुथल हो गया। .. ..भाँति-भाँति के बाजन लगे बाजने....हर्षित हो राजा ने कन्यादान कर सहस्र हाथी, लाख घोड़े वो

गौ, कनक-रत्न आसन भूषण वस्त्र रघु ने जँवाई को यौतुक दिया।

यद्यपि आशीस दे बोले कि धन्य हो राजा रघु! क्यों न हो।...ईश्वर करे यों ही सदा फूले फले रहो और यह हमारे यौतुक के हाथी, घोड़े द्रव्य तुम्हारे ही घर में रहें, क्यों कि वन के बसने वाले तपस्वियों को इनसे क्या काम।"

इसके पश्चात् लगभग ९० वर्ष तक हिंदी-गद्य-धारा का प्रवाह रुका रहा। इसका कारण था अँगरेजी शासन द्वारा अदालतों और दफ़्तरों में उर्दू भाषा तथा फारसी लिपि का प्रोत्साहन। इसका फल यह हुआ कि उर्दू की उन्नति हिंदी से पहले प्रारंभ हो गई। तब भी हिंदी-भाषा के समर्थकों ने जो बन पड़ा वह किया। राजा शिवप्रसाद ने सं० १९०२ में काशी में 'बनारस अखबार' निकाला। इसकी भाषा तो उर्दू थी परंतु लिपि देवनागरी थी। चार-पाँच वर्ष बाद काशी में 'सुधाकर' निकाला गया। सं० १९०९ में मुंशी सदासुखलाल ने आगरा में 'बुद्धि-प्रकाश' निकाला। हिंदी का प्रभाव इस समय दूर फैल चुका था। यही कारण था कि स्वामी दयानंद सरस्वती ने गुजराती होते हुए भी, अपना मुख्य ग्रंथ 'सत्यार्थ-प्रकाश', गुजराती भाषा में न लिखकर, हिंदी में लिखा। वरन् कुछ लोग यह अनुभव करने लगे थे कि उर्दू शब्दों का बहिष्कार किया जाना चाहिए। राजा लक्ष्मणसिंह (सं० १८८३-१९५६) ने सरकारी पदाधिकारी होते हुए भी राजा शिव-प्रसाद की उर्दू-फारसी रंग से रंगी हिंदी का विरोध किया। सं० १९१८ में आपने 'प्रजा-हितैषी' पत्र निकाला। सं० १९१९ में आपने कालिदास के प्रसिद्ध 'अभिज्ञान-शाकुंतल' का हिंदी में गद्यानुवाद किया। शीघ्र ही आपने रघुवंश का भी उल्था कर दिया। बाद में आपने शाकुंतल के पद्यों का भी

हिंदी-पद्य में अनुवाद कर दिया। आपका गद्य शुद्ध खड़ी बोली में होता था। आपके गद्य में आधुनिक गद्य की झलक दिखाई पड़ती है।

इस समय तक हिंदी-गद्य-लेखकों को भाषा के विषय में कोई रोक-टोक न थी। कोई संस्कृत के कठिन शब्दों का समर्थक था, कोई उर्दू-फारसी के शब्दों का पक्षपाती था, कोई ब्रज-भाषा और अवधी बोली के शब्दों का प्रयोग करता था। हिंदी-गद्य का अभी एक निश्चित स्वरूप न हो सका था। इस कार्य के लिए किसी बड़े प्रतिभाशाली की आवश्यकता थी। इसी समय काशी में हरिश्चंद्र का (सं० १९०७-१९४१) जन्म हुआ जिन्होंने इस काम के लिए अपना सारा जीवन लगा दिया। आपके पिता बाबू गोपालराम ब्रज-भाषा के कवि और नाटककार थे। अतएव इनके संसर्ग से हरिश्चंद्र की भी प्रवृत्ति हिंदी की ओर झुक जानी स्वाभाविक थी। आपने साहित्य के विविध क्षेत्रों में अपनी प्रतिभा का चमत्कार दिखाया। आपने सं० १९२५ में बँगला में 'विद्यासुंदर' नाटक का अनुवाद किया। आपने 'कवि-वचन-सुधा' और 'हरिश्चंद्र-चंद्रिका' आदि मासिक पत्र भी निकाले। सं० १९३० में आपका पहला मौलिक प्रहसन 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' छपा। इसके बाद आपने 'मुद्राराक्षस', 'कर्पूर-मंजरी', 'सत्य हरिश्चन्द्र', 'भारत-दुर्दशा', 'अंधेर-नगरी', 'नील-देवी', 'चंद्रावली' इत्यादि नाटक लिखे। आपके नाटकों की विशेषता है ब्रज-भाषा की सरस कविता और खड़ी बोली का परिमार्जित गद्य। आपने 'काश्मीर-कुसुम' और 'बादशाह-दर्पण' आदि कुछ-एक इतिहास-ग्रंथ भी लिखे परंतु शीघ्र ही आप परलोक सिधार गए। आपके सतत परिश्रम से हिंदी-गद्य का स्वरूप निश्चित हो गया। आपकी भाषा साफ-सुथरी, जोरदार और स्पष्ट थी।

भारतेंदु जी की प्रेरणा से इनके कई मित्र भी हिंदी-प्रेमी और अच्छे हिंदी-सेवी बन गये। इनमें हर-एक किसी न किसी पत्र-पत्रिका के संपादक रहे। इन महानुभावों के परिश्रम से 'बिहार-बंधु', 'भारत-बंधु' 'आनंद-कादंबिनी,' 'पीयूष-प्रवाह', 'ब्राह्मण', 'भारत-जीवन' आदि पत्र निकले। तत्कालीन लेखकों में उल्लेखनीय नाम हैं—बदरीनारायण चौधरी, प्रतापनारायण मिश्र, ठाकुर जगमोहनसिंह, बालकृष्ण भट्ट आदि। सं० १९३४ में पं० बालकृष्ण भट्ट ने 'हिंदी-प्रदीप' नाम का एक मासिक पत्र निकाला।

इस समय बँगला साहित्य से अनुवाद द्वारा भी हिंदी-साहित्य की वृद्धि होने लगी। इस विषय में राधाकृष्णदास, प्रतापनारायण मिश्र, राधाचरण गोस्वामी आदि का परिश्रम प्रशंसनीय है। इस प्रकार हिंदी साहित्य में अन्य-भाषाओं के उत्कृष्ट ग्रंथ अनूदित होने लगे। हिंदी-प्रेमियों के हृदय में हिंदी के लिए विशेष अनुराग और उत्साह झलकने लगा। परंतु व्याकरण आदि के नियम-पालन का ध्यान न किया जाता था। कई प्रकार के भाषा-संबंधी दोष रहते थे। अब हिंदी-जगत् में एक ऐसे महापुरुष की आवश्यकता थी जो हिंदी-भाषा को इन दोषों से मुक्त कर सके। यह कार्य आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी (सं० १९२७–१९९५) द्वारा हुआ। आपने 'सरस्वती' पत्रिका के संपादक बनकर हिंदी-भाषा को परिमार्जित रूप प्रदान किया। बड़े-बड़े लेखकों को उनकी भूलें बताकर उन्हें शुद्ध हिंदी लिखने को विवश किया। इनके साथ-साथ अपने छोटे-छोटे लेखकों को प्रोत्साहन प्रदान कर हिंदी-सेवियों की संख्या में असाधारण वृद्धि की। आपने विषयानुसार भाषा बदलना भी उचित समझकर इसका प्रचार किया। आजकल हिंदी का जो स्वरूप निर्माण हुआ है, वह इन महारथी के प्रयत्न का परिणाम है।

हिंदुस्तानी बोली के प्रचार में प्रयाग-विद्यापीठ एक अच्छा साधन बन रहा है । भारतीय सरकार की भी इच्छा हिंदुस्तानी बोली को [illegible] बनाने की है । संयुक्त-प्रांत में इसी कारण हिंदुस्तानी एकेडेमी नाम की संस्था खोली गई है ।

अस्तु । इस झगड़े से, आशा है, हिंदी-शुद्ध हिंदी-की प्रगति को ठेस न लगेगी । हिंदी-साहित्य के साथ-साथ यदि हिंदुस्तानी बोली में साहित्य पनप सकता है तो खूब फले-फूले ।

---

# गद्य-चयनिका

## १—नल-दमयन्ती

[ राजा शिवप्रसाद ]

विदर्भ देश के राजा भीमसेन की कन्या भुवन-मोहनी दमयन्ती का रूप और गुण सारे भारतवर्ष में प्रख्यात हो गया था। निषध देश के राजा वीरसेन के पुत्र महागुणवान अतिसुशील धार्मिक 'नल' से स्वयंवर में उसने जयमाल देकर विवाह किया। बारह बरस तक दोनों के सुख-चैन से दिन कटे और इस अन्तर में उनके एक लड़की और एक लड़का भी हो गया। यद्यपि मनुजी ने धर्मशास्त्र मे पासा खेलना मना लिखा है, पर नल को इसका शौक था। वह अपने छोटे भाई पुष्कर के साथ खेला करता था। यहाँ तक कि दाव लगाते-लगाते सारा राज्य हार गया और सिवाय एक धोती के और कुछ भी पास न रहा। नल दमयन्ती को साथ लेकर बाहर निकला। लड़का-लड़की को दमयन्ती ने पहले ही से अपने बाप के घर भेज दिया था। पुष्कर ने सारे

दमयन्ती रोती-बिलपती जङ्गल-पहाड़ों को छानती, सिंह और हाथियों से बचती सौ-सौ आफ़तें झेलती वनवासी मुनि लोग और बंजारों से पता लगाती. सुबाहु नगर में पहुँची और वहाँ के राजा की रानी के पास दासी बन के रहने लगी। वहाँ से उसके पिता के भेजे हुए ब्राह्मण ढूँढ़-खोज कर विदर्भ नगर को ले गये। राजा नल दमयन्ती के विरह में शोकाकुल होकर घूमता फिरता अयोध्या में आ निकला और 'बाहुक' के नाम से वहाँ के राजा ऋतुपर्ण का सारथि बना। दमयन्ती के बाप ने नल के ढूँढ़ने को नगर-नगर ब्राह्मण भेज दिये थे। उनमें से सुदेव नामक ब्राह्मण अयोध्या से यह समाचार लाया कि बाहुक नाम एक सारथि, जो राजा ऋतुपर्ण के यहाँ है, दमयन्ती का नाम सुनते ही आँखों में आँसू भर लाया पर उसने अपने-तईं सिवाय सारथि होने के और कुछ न बतलाया। दमयन्ती यह सुनते ही ताड़ गई कि हो न हो वह मेरा ही स्वामी राजा नल है और अपने बाप से उसके बुलाने की प्रार्थना की। पर जब वह भीमसेन के बुलाने से न आया और सारे उपाय निष्फल हुए तब दमयन्ती ने अपने बाप से कह के राजा ऋतुपर्ण को यह लिखवाया कि नल के मिलने की अब कुछ आस न रहने से दमयन्ती का दूसरा स्वयंवर रचा जावेगा, सो आप कृपा करके शीघ्र आइये। और दिन स्वयंवर का ऐसा समीप ठहराया कि बिना राजा नल के हाँके कोई घोड़ा उस अल्प काल में अयोध्या से विदर्भ तक न पहुँ

सके। राजा नल का रथ हाँकना प्रख्यात था। राजा ऋतुपर्ण बहुत घबराया कि इतने थोड़े अर्से में क्यों कर विदर्भ पहुँच सकेंगे, पर नल ने कहा—'महाराज! आप चिन्ता न कीजिये, मैं आपको स्वयंवर के दिन से पहले वहाँ पहुँचा दूँगा।' निदान ऐसा ही हुआ। राजा भीमसेन ने ऋतुपर्ण का बड़ा सम्मान किया, परन्तु वहाँ स्वयंवर की कुछ रचना और किसी दूसरे राजा को न देखकर यह अपने मन में बहुत लज्जित हुआ। नल घोड़ों को घुड़साल में बाँधकर भीमसेन के सारथि के पास एक टूटी-सी खाट पर पड़ रहा। दमयन्ती अयोध्याधिपति के पहुँचने के समाचार पाकर बहुत घबराई और मन में प्रतिज्ञा की कि अब जो नल से मिलाप न हुआ तो आज अवश्य अपने तन को अनल में दाह करूँगी। निदान् अपनी सखी केशिनी को ऋतुपर्ण के सारथि का अनुसन्धान लेने के लिये घुड़साल में भेजा।

केशिनी ने जाके नल से कहा कि दमयन्ती आपका नाम और पता-ठिकाना पूछती है। नल ने कहा कि मेरा नाम बाहुक, मैं अयोध्या के राजा का सारथि हूँ। दमयन्ती का स्वयंवर आज ही सुन के मारों-मार घोड़ों को यहाँ लाया हूँ। पर बड़े ही अचरज की बात है कि राजा नल की रानी दमयन्ती ऐसी पतिव्रता सती हो के दूसरे पति की इच्छा करे। सच है, जब मनुष्य के बुरे दिन आते हैं तो स्त्री-पुत्र भी अपने नहीं रहते। केशिनी बोली—'हे बाहुक! तुम कुछ राजा नल का भी पता-

ठिकाना बता सकते हो? देखो तो उन्होंने कैसी कठिनाई और निर्दयता का काम किया कि अबला बाला को अकेली जङ्गल में शेर-हाथी और रीछ-अजगरों के साथ छोड़कर अपना रास्ता लिया। दमयन्ती ने उनके विरह में अन्न-जल और सेज का त्याग करके केवल उन्हीं के नाम-स्मरण का अवलम्बन किया है। दमयन्ती की यह विथा सुनकर नल की आँखों से आँसुओं की धारा बह चली और वह बोला कि स्त्री अपने पति से चाहे जितना कष्ट पावे पर उसे औरों के सामने उसकी निन्दा करनी कदापि उचित नहीं। जो राजा नल दमयन्ती को वहाँ जङ्गल में न छोड़ जाता तो उसका प्राण ही बचना कठिन था। और सिवाय इसके जो नल ने कोई निर्दयता का भी काम किया हो तो दमयन्ती को उस पर कोप न करना चाहिए। जो आदमी कल राजा था और आज पाँव में पहरने को जूता भी नहीं रखता, उसकी मति यदि ठिकाने न रहे तो क्या अचरज है। इतना कह के नल फिर रोने लगा।

केशिनी ने रनवास में जाके यह सब वृत्तान्त दमयन्ती से कहा। दमयन्ती ने सुनते ही जान लिया कि वह बाहुक नहीं, यह मेरा भर्त्ता राजा नल है। केशिनी से कहा कि तू फिर उसके पास जा और देख आ कि वह क्या कर रहा है, और अब की बार मेरे लड़के-लड़की को भी लेती जा। नल अपने बेटा-बेटी को देख के आँसुओं की धारा को न रोक सका। दोनों को छाती से लगा लिया और कहने लगा कि मेरे भी ऐसे ही

बेटा-बेटी हैं, पर बहुत दिनों से देखा नहीं। इन्हें देख के वे मुझे याद आगये। अब इन्हें इनकी माँ के पास ले जा। विचारे आज नल के बालक हैं, कल किसी दूसरे के हो जायँगे। नारी ही धन्य है, आज एक पति छोड़ा, कल दूसरा कर लिया। परन्तु रात बीते तो मैं भी यह तमाशा देखूँगा कि राजा नल की सती रानी दमयन्ती किस प्रकार दूसरा भर्त्ता करती है। केशिनी ने आके दमयन्ती से सारी बातें ज्यों की त्यों कह दीं, और बोली कि यह तो कोई दैवी पुरुष है। जितनी सामग्री हमारे यहाँ से राजा ऋतुपर्ण को दी गई थी, इसने देखते ही देखते सब रींध के तैयार कर ली। दमयन्ती ने कहा—'जा, जो-जो कुछ उसने रींधा हो थोड़ा-थोड़ा सब मेरे पास ले आ।' केशिनी ले आयी। दमयन्ती ने चक्खा तो उनमें वही स्वाद पाया जो राजा नल के बनाये भोजन में पाती थी। राजा नल इस काम में बड़ा ही निपुण था।

दमयन्ती ने अपनी माँ से जाके कहा कि मेरा स्वामी आगया। मुझे उसके पास घुड़साल में जाने की आज्ञा दीजिए। वह इस संवाद को सुन कर अत्यन्त हर्षित हुई और दमयन्ती को घुड़साल में जाने की आज्ञा दी। वह अपना लड़का-लड़की साथ लिये नल के पास घुड़साल में गई। नल को सारथी के भेष में तन-छीन मुख-मलीन देख के अत्यन्त शोकाकुल हुई। आँखों से आँसुओं की धारा बह चली। बोली—'हे प्राणनाथ! यह कौन सी नीति थी जो आपने मुझ निरपराधिनी अबला

को अकेली उस जङ्गल में छोड़ा ?' नल ने लज्जित हो के उत्तर दिया कि 'हे प्राणप्यारी ! क्या मैं कभी तुमको छोड़ सकता था, परन्तु जिस विपरीत बुद्धि ने मुझसे मेरा राज्य छुड़ा लिया, उसी ने तुम्हें भी मुझसे बिछुड़ाया, पर जो कुछ तुम्हारे दारुण विरह का दुःसह दुःख मैंने सहा है वह मेरा शरीर कहेगा। जो हो, पतिव्रता स्त्री अपने पति का दोष देख कर भी उसकी निन्दा नहीं करती है। पर तुम तो कल किसी दूसरे की हो जाओगी। तुम्हें अब इन बखेड़ों से क्या काम है ?'

दमयन्ती ने हाथ जोड़ कर निवेदन किया कि महाराज ! राजा ऋतुपर्ण को केवल आपके बुलाने के लिए स्वयंवर का पत्र लिखवाया था और आप देखिये कि उसके सिवाय और कोई भी यहाँ नहीं आया। मैंने प्रतिज्ञा की थी कि जो मैं आज आपसे न मिलूँ तो आग में जल मरूँ।

निदान यह बात धीरे-धीरे राजा भीमसेन और ऋतुपर्ण तक भी पहुँची। वे इस बात के सुनने से परम आनन्दित हुए। राजा ऋतुपर्ण ने नल से कहा कि महाराज ! मैंने आपको न जानकर बड़ी अनीति की। मेरा कहा-सुना और भूल-चूक आप सब क्षमा कीजिये। राजा ऋतुपर्ण तो अयोध्या की ओर सिधारा और भीमसेन ने नल से यह कहा कि अभी निषध देश में आपका जाना उचित नहीं, आप मेरा राज-पाट लीजिये, इसी जगह रहिए। पर जब नल ने ससुराल में रहना स्वीकार न किया और अपने देश में जाने की इच्

रखती है। मेरा रोम में भी मसलना नहीं जाता। इसी से मेरा नाम ऋषि ने सर्वदमन रक्खा है।

दुष्यन्त—( आप ही आप ) अहा! क्या कारण है कि मेरा स्नेह इस लड़के में पुत्र का-सा होता आता है? हो न हो यह हेतु है कि मैं पुत्रहीन हूँ।

दूसरी तपस्विनी—जो तू इस बच्चे को छोड़ न देगा तो सिंहिनी तुझ पर दौड़ेगी।

बालक—( मुसकाकर ) ठीक है सिंहिनी का मुझे ऐसा ही डर है। ( रोष में आकर होंठ काटने लगा )

दुष्यन्त—( आप ही आप चकित-सा होकर ) यह किसी बड़े बली का बालक है। इसका रूप उस अग्नि के समान है जो सूखा काठ मिलने से अति प्रज्वलित होती है।

पहली तपस्विनी—हे बालक! सिंह के बच्चे को छोड़ दे। मैं तुझे उससे भी सुन्दर खिलौना दूँगी।

बालक—पहले खिलौना दे दो। लाओ कहाँ है? ( हाथ पसारकर )

दुष्यन्त—( लड़के के हाथ को देखकर आप ही आप ) आहा! इसके हाथ में तो चक्रवर्ती के लक्षण हैं। उँगलियों पर कैसा अद्भुत जाल है और हथेली की शोभा प्रात कमल को भी लज्जित कर रही है।

दूसरी तपस्विनी—हे सखी सुव्रता! यह बातों से न मानेगा,

दुष्यन्त—(हर्ष और शोक दोनों से) क्या योगिनी के वेष में यह प्यारी शकुन्तला है जिसका मुख विरह के नियमों ने पीला कर दिया है और जो वस्त्र मलिन पहने, जटा कन्धे पर डाले, मुझ निर्दयी का वियोग सहती है।

शकुन्तला—(राजा की ओर देखकर और संशय करके) यह क्या मेरा ही प्राणपति है जो मेरे वियोग से ऐसा कुम्हला रहा है? जो मेरा पति नहीं है तो कौन है जिसने बालक का हाथ पकड़कर अपना कहा और मुझे दूषण लगाया? यह कौन है जिसको बालक के गंडे ने बाधा न करी?

बालक—(दौड़ता हुआ शकुन्तला के पास जाकर) माता! यह किसी के कहने से मुझे अपना पुत्र बताता है।

दुष्यन्त—हे प्यारी! मैंने तेरे साथ निठुराई तो की परन्तु परिणाम अच्छा हुआ कि तैंने मुझे पहचान लिया। जो हुआ सो हुआ, अब इस बात को भूल जा।

शकुन्तला—(आप ही आप) अरे मन! तू धीरज धर। अब मेरे सौभाग्य हुआ कि निर्दयी भाग्य ने ईर्षा छोड़ी। (प्रगट) हे आर्यपुत्र! मेरी तो यही अभिलाषा है कि तुम प्रसन्न रहो।

दुष्यन्त—प्यारी! [illegible] मैंने तेरा मुख न [illegible] था, सो [illegible] है कि [illegible] रोहिणी [illegible] [illegible] के, अन्त में [illegible] मिल [illegible] [illegible]।

शकुन्तला--महाराज की...( इतना कहते ही गद्गद वाणी होकर आँसू गिरने लगे )

दुष्यन्त—हे सुन्दरी ! मैंने जान लिया तू जय शब्द कहा चाहती थी. सो आँसुओं ने रोक लिया परन्तु मेरी जय होने मे अब कुछ सन्देह नहीं है. क्योंकि आज तेरे मुखचन्द्र का दर्शन मिल गया।

बालक—माता ! यह पुरुष कौन है ?

शकुन्तला—बेटा ! अपने भाग्य से पूछ। ( फिर रो उठी )

दुष्यन्त—हे सुन्दरी ! अब तू अपने मन से मेरे अवगुनों का ध्यान बिसरा दे। जिस समय मैंने तेरा अनादर किया मेरा चित्त किसी बड़े भ्रम मे था। जब तमोगुण प्रबल होता है बहुधा यही गति मनुष्य की हो जाती है, जैसे अन्धे के गले में हार डालो और वह उसको सर्प समझकर फेंक दे।

( यह कहता हुआ पैरों में गिर पड़ा )

शकुन्तला—उठो. प्राणपति ' उठो. मेरे सुख मे बहुत दिन विघ्न रहा. परन्तु तुम्हारा हित अब तक मुझमे बना है यह बड़े सुख का मूल है। ( [illegible] ) मुझ दुखिया की सुध कैसे आपको आई सो कहो।

दुष्यन्त—जब पश्चात्ताप का काँटा मेरे कलेजे से निकल जायगा तब सब वृत्तान्त कहूँगा। अब तू मुझे अपने सुन्दर पलकों से आँसू पोंछने दे जिससे मेरा यह पछतावा दूर हो कि

# पुत्र-शोक

[ भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ]

नेपथ्य में—

हाय ! कैसी भई ! हाय बेटा ! हमें रोती छोड़ कहाँ चले गये ? हाय ! हाय रे !

हरिश्चन्द्र—अहह ! किसी दीन स्त्री का शब्द है, और शोक भी इसको पुत्र का है। हाय हाय ! हमको भी भाग्य ने क्या ही निर्दय और वीभत्स कर्म सौंपा है ! इससे भी वस्त्र माँगना पड़ेगा।

( रोती हुई शैव्या रोहिताश्व का मुरदा लिये आती है )

शैव्या—( रोती हुई ) हाय बेटा !! जब बाप ने छोड़ दिया तब तुम भी छोड़ चले ! हाय ! हमारी विपत और बुढ़ौती की ओर भी तुमने न देखा ! हाय ! हाय रे ! अब हमारी कौन गति होगी ! ( रोती है )

हरिश्चन्द्र—हाय हाय ! इसके पति ने भी इसको

थी, सो अब कैसे जीती रहूंगी ! अरे लाल ! एक बार तो बोलो !

( रोती है )

हरिश्चन्द्र—न जानें, क्यों इसके रोने पर मेरा कलेजा फटा जाता है।

शैब्या—( रोती हुई ) हा नाथ ! अरे अपने गोद के खिलाये बच्चे की यह दशा क्यों नहीं देखते ? हाय ! अरे तुमने तो इसको हमें सौंपा था कि इसे अच्छी तरह पालना, सो हमने इसकी यह दशा कर दी। हाय ! अरे ऐसे समय में भी आकर नहीं सहाय होते ? भला एक बार लड़के का मुँह तो देख जाओ। अरे, अब मैं किसके भरोसे जीऊँगी ?

हरिश्चन्द्र—हाय ! इसकी बातों से तो प्राण मुँह को चले आते हैं और मालूम होता है कि संसार उलटा जाता है। यहाँ से हट चलें।

( कुछ दूर हटकर उसकी ओर देखता खड़ा हो जाता है )

शैब्या—( रोती हुई ) हाय ! यह विपत का समुद्र कहाँ से उमड़ पड़ा। अरे छलिया, मुझे छलकर कहाँ भाग गया ? ( देख कर ) अरे, आयुष की रेखा तो इतनी लम्बी है, फिर अभी से यह वज्र कहाँ से टूट पड़ा ? अरे, ऐसा सुन्दर मुँह, बड़ी बड़ी आँख, लम्बी लम्बी छाती, गुलाब सा रंग ! हाय मरने के तुझमें कौन लच्छन* थे जो भगवान ने तुझे मार डाला ! हाय लाल ! अरे, बड़े बड़े जोतसी गुनी लोग तो कहते थे

* स्त्री पात्र के मुख से लक्षण के स्थान पर लच्छन कहलाया गया है।

कि तुम्हारा बेटा प्रतापी चक्रवर्ती राजा होगा, बहुत जीवेगा, सो सब झूठ निकला ! हाय ! पोथी, पत्रा, पूजा, पाठ, दान, जप, होम कुछ भी काम न आया ! हाय ! तुम्हारे बाप का कठिन पुन्य* भी तुम्हारा सहाय न हुआ और तुम चल बसे ! हाय !

हरिश्चन्द्र—अरे, इन बातों से तो मुझे बड़ी शंका होती है। (शव को भली भाँति देखकर) अरे, इस लड़के में तो सब लक्षण चक्रवर्ती से ही दिखाई पड़ते हैं। हाय ! न जाने किस नगर को इसने अनाथ किया है। हाय ! रोहिताश्व भी इतना बड़ा हुआ होगा। (बड़े सोच से) हाय हाय ! मेरे मुँह से क्या अमंगल निकल गया ! नारायण !

(सोचता है)

शैव्या—भगवान विश्वामित्र ! आज तुम्हारे सब मनोरथ पूरे हुए। हाय !

हरिश्चन्द्र—(घबड़ाकर) हाय हाय ! यह क्या ? (भली भाँति देखकर रोता हुआ) हाय ! अब तक मैं सन्देह ही में पड़ा हूँ ? अरे, मेरी आँखे कहाँ गई थीं जिनने अब तक पुत्र रोहिताश्व को न पहचाना और कान कहाँ गये थे जिनने अब तक महारानी की बोली न सुनी ! हा पुत्र ! हा सूर्यवंश के अंकुर ! हा हरिश्चन्द्र की विपत्ति के एक-मात्र अवलम्ब ! हाय ! तुम

* स्त्री पात्र के मुख ने पुरय के स्थान पर पुन्य कहलाया गया है।

क्षमा करना, दुख से मनुष्य की बुद्धि ठिकाने नहीं रहती। अब तो मै चाण्डाल-कुल का दास हूँ, न अब शैव्या मेरी स्त्री है और न रोहिताश्व मेरा पुत्र! चलूँ, अपने स्वामी के काम पर सावधान हो जाऊँ वा देखूँ अब दुखिनी शैव्या क्या करती है।

( शैव्या के पीछे जाकर खड़ा होता है )

शैव्या—( पहली तरह बहुत रोकर ) हाय अब मैं क्या करूँ! अब मैं किस का मुँह देखकर संसार में जीऊँगी! हाय! मैं आज से निपूती भई! पुत्रवती स्त्री अपने बालकों पर अब मेरी छाया न पड़ने देंगी। हा! नित्य सवेरे, उठकर अब मै किसकी चिन्ता करूँगी! खाते समय मेरी गोद में बैठकर और मुझसे माँग माँग कर कौन खायगा? मै परोसी थाली सूनी देखकर कैसे प्राण रक्खूँगी। ( रोती है ) हाय! खेलते खेलते आकर मेरे गले से कौन लपट जायगा! और 'माँ-माँ' कहकर तनिक तनिक बातों पर कौन हठ करेगा? हाय! मै अब किसको अपने आँचल से मुँह की धूल पोंछकर गले लगाऊँगी और किसके अभिमान से विपत में भी फूली फूली फिरूँगी? ( रोती है ) या जब रोहिताश्व ही नहीं तो मैं ही जी के क्या करूँगी? ( छाती पीटकर ) हाय प्राण! तुम अब भी क्यों नहीं निकलते? मैं ऐसी स्वारथी हूँ कि आत्म-हत्या के नरक के भय से अब भी अपने को नहीं मार डालती! नहीं नहीं, अब मैं न जीऊँगी। या तो इस पेड़ में फाँसी लगाकर मर जाऊँगी या गंगा में कूद पड़ूँगी।

( उन्मत्ता की भाँति उठकर दौड़ना चाहती है )

हरिश्चन्द्र—( आड़ में से )

तनहिं बेंचि दासी कहवाई।
मरति स्वामि-आयसु बिन पाई॥
करु न अधर्म सोच जिय माहीं।
"पराधीन सपनेहु सुख नाहीं"॥

शैव्या—( चौंकती होकर ) अहा! यह किसने इस कठिन समय मे धर्म का उपदेश किया? सच है, मैं अब इस देह की कौन हूँ जो मर सकूँ? हाय दैव! तुझसे यह भी न देखा गया कि मैं मरकर भी सुख पाऊँ? ( कुछ धीरज धर के ) तो चलूँ, छाती पर वज्र धर के अब लोक रीति करूँ। ( रोती और लकड़ी चुनकर चिता बनाती हुई ) हाय! जिन हाथों से ठोक ठोक कर रोज सुलाती थी उन्हीं हाथों से आज चिता पर कैसे रक्खूँगी? जिसके मुँह मे छाला पड़ने के भय से कभी मैंने गरम दूध भी नहीं पिलाया उसे…( बहुत ही रोती है )

हरिश्चन्द्र—धन्य देवी! आखिर तो चन्द्र-सूर्य-कुल की स्त्री हो, तुम न धीरज धरोगी तो कौन धरेगा?

( शैव्या चिता बनाकर पुत्र के पास आकर उठाना चाहती है और रोती है )

हरिश्चन्द्र—तो अब चलें, उससे आधा कफन माँगें। (आगे बढ़कर और बलपूर्वक आँसुओं को रोककर शैव्या से) महाभागे! श्मशान-पति की आज्ञा है कि आधा कफन दिये बिना कोई

न (रोहिताश्व की ओर देखकर) वत्स रोहिताश्व! उठो, देखो तुम्हारे माता-पिता देर से तुम्हारे मिलने को व्याकुल हो रहे हैं।

(रोहिताश्व उठ खड़ा होता है और आश्चर्य से भगवान्
को प्रणाम करके माता-पिता का मुँह देखने लगता है;
आकाश से फिर पुष्प-वृष्टि होती है)

---

थे या यों ही। शहर की एक पैसे की पूरी के मेले में दो पैसे हों तो आश्चर्य न करना चाहिए, चार पैसे भी हो सकते थे। यह क्या देखने की बात थी? तुमने व्यर्थ बातें बहुत देखीं, काम की एक भी तो देखते? दाईं ओर जाकर तुम ग्यारह सौ सतरों का एक पोस्टकार्ड देख आये, पर बाँई तरफ़ बैठा हुआ ऊँट भी तुम्हें दिखाई न दिया! बहुत लोग उस ऊँट की ओर देखते और हँसते थे। कुछ लोग कहते थे कि कलकत्ते में ऊँट नहीं होते इसी से मोहन-मेले वालों ने इस विचित्र जानवर का दर्शन कराया है। बहुत सी शौकीन बीवियाँ, कितने ही फूल-बाबू ऊँट का दर्शन करके खिलते दाँत निकालते चले गये। तब कुछ मारवाड़ी बाबू भी आये और झुक-झुक कर उस काठ के घेरे में बैठे हुए ऊँट की तरफ़ देखने लगे। एक ने कहा—"ऊँटड़ो है।" दूसरा बोला—"ऊँटड़ो कठेते आयो?" ऊँट ने भी यह देख दोनों ओठों को फड़काते हुए थूयनी फटकारी। भङ्ग की तरङ्ग में मैंने सोचा कि ऊँट अवश्य ही मारवाड़ी बाबुओं से कुछ कहता है। जी में सोचा कि चलो देखें वह क्या कहता है। क्या उसकी भाषा मेरी समझ में न आवेगी? मारवाड़ियों की भाषा समझ लेता हूँ तो मारवाड़ के ऊँट की बोली समझ में न आवेगी? इतने में तरङ्ग कुछ अधिक हुई। ऊँट की बोली साफ़-साफ़ समझ में आने लगी। ऊँट ने उन मारवाड़ी बाबुओं की ओर थुथनी करके कहा—

"बेटा! तुम बच्चे हो, तुम क्या जानोगे? यदि मेरी उमर का कोई होता तो वह जानता। तुम्हारे बाप के बाप जानते थे कि मैं कौन हूँ, क्या हूँ। तुमने कलकत्ते के महलों में जन्म लिया, तुम पोतड़ों के अमीर हो! मेले में बहुत चीजें हैं उनको देखो। और यदि तुम्हें कुछ फ़ुरसत हो तो लो सुनो, सुनाता हूँ—

आज दिन तुम विलायती फिटिन, टमटम और जोड़ियों पर चढ़ कर निकलते हो, जिनकी कतार तुम मेले के द्वार पर मीलों तक छोड़ आये हो, तुम उन्हीं पर चढ़ कर मारवाड़ से कलकत्ते नहीं पहुँचे थे। ये सब तुम्हारे साथ की जन्मी हुई है। तुम्हारे बाप पचास साल के भी न होंगे, इससे वह भी मुझे भली भाँति नहीं पहचानते। हाँ, उनके भी बाप हों तो मुझे पहचानेंगे। मैंने ही उनको पीठ पर लाद कर कलकत्ते तक पहुँचाया है।

आज से पचास साल पहले रेल कहाँ थी? मैंने मारवाड़ से मिरज़ापुर तक और मिरज़ापुर से रानीगंज तक कितने ही फेरे किये हैं। महीनों तुम्हारे पिता के पिता तथा उनके भी पिताओं का घर-बार मेरी ही पीठ पर रहता था। जिन स्त्रियों ने तुम्हारे बाप और बाप के भी बाप को जन्म दिया है, वे सदा मेरी पीठ को ही पालकी समझती थीं। मारवाड़ में मैं सदा तुम्हारे द्वार पर हाज़िर रहता था, पर यहाँ वह मौका कहाँ? इसी से इस मेले में तुम्हें देखकर आँखे शीतल करने आया

हूँ। तुम्हारी भक्ति घट जाने पर भी मेरा वात्सल्य नहीं घटता है। घटे कैसे, मेरा तुम्हारा जीवन एक ही रस्सी से बँधा हुआ था। मैं ही हल चला कर तुम्हारे खेतों में अन्न उपजाता था और मैं ही चारा आदि पीठ पर लादकर तुम्हारे घर पहुँचाता था। यहाँ कलकत्ते में जल की कलें हैं, गंगाजी हैं, जल पिलाने को ग्वाले-कहार हैं, पर तुम्हारी जन्म-भूमि में मेरी ही पीठ पर लद कर कोसों से जल आता था और तुम्हारी प्यास बुझाता था।

मेरी इस घायल पीठ को घृणा से न देखो। इस पर तुम्हारे बड़े अन्न रस्सियाँ यहाँ तक कि उपले लाद कर दूर-दूर तक ले जाते थे। जाते हुए मेरे साथ पैदल जाते थे और लौटते हुए मेरी पीठ पर चढ़े हुए हिचकोले खाते वह स्वर्गीय सुख लूटते थे कि तुम रवड़ के पहिये वाली, चमड़े की कोमल गद्दियोंदार फिटिन में बैठकर भी वैसा आनन्द प्राप्त नहीं कर सकते। मेरी बलबलाहट उनके कानों को इतनी सुरीली लगती थी कि तुम्हारे बगीचों में तुम्हारे गवैयों तथा तुम्हारी पसन्द की बीबियों के स्वर भी तुम्हें उतने अच्छे न लगते होंगे। मेरे गले के घण्टों का शब्द उनको सब बाजों से प्यारा लगता था। फोग के जङ्गल में मुझे चरते देख कर वे उतने ही प्रसन्न होते थे जितने तुम अपने सजे बगीचों में भङ्ग पीकर, पेट भरकर और ताश खेलकर।'

भङ्ग की निन्दा सुन कर मैं चौंक पड़ा। मैंने ऊँट से

शब्दों में कह सकते हैं कि माया का प्रपंच फैलाता है या धोखे की टट्टी खड़ी करता है।

अतः सब से पृथक् रहनेवाला ईश्वर भी ऐसा नहीं है जिसके विषय में यह कहने का स्थान हो कि वह धोखे से अलग है, वरञ्च धोखे से पूर्ण उसे कह सकते हैं। अवतार-धारणा की दशा में उसका नाम माया-वपुधारी होता है, जिसका अर्थ है—धोखे का पुतला और सच भी यही है, जो सर्वथा निराकार होने पर भी मत्स्य, कच्छपादि रूपों मे प्रकट होता है और शुद्ध निर्विकार कहलाने पर भी नाना प्रकार की लीला किया करता है वह धोखे का पुतला नहीं तो क्या है? हम आदर के मारे उसे भ्रम से रहित कहते हैं, पर जिसके विषय में कोई निश्चय-पूर्वक 'इदमित्थं' कह ही नहीं सकता; जिसका सारा भेद स्पष्ट रूप से कोई जान ही नहीं सकता, वह निर्भ्रम या भ्रम-रहित क्योंकर कहा जा सकता है? शुद्ध शुद्ध निर्भ्रम वह कहलाता है जिसके विषय में भ्रम का आरोप भी न हो सके, पर उसके तो अस्तित्व तक में नास्तिकों को सन्देह और आस्तिकों को निश्चय ज्ञान का अभाव रहता है; फिर वह निर्भ्रम कैसा? और जब वही भ्रम से पूर्ण है तब उसके बनाये संसार में भ्रम अर्थात् धोखे का अभाव कहाँ?

वेदान्ती लोग जगत् को मिथ्या भ्रम समझते है। यहाँ तक कि एक महात्मा ने किसी जिज्ञासु को भली-भाँति समझा दिया था कि विश्व में जो कुछ है और जो कुछ होता है, सब

भ्रम है। किन्तु यह समझाने के कुछ ही दिन उपरान्त उनके किसी प्रिय व्यक्ति का प्राणान्त हो गया, जिसके शोक में वह फूट-फूटकर रोने लगे। इस पर शिष्य ने आश्चर्य में जाकर पूछा कि आप सब बातों को भ्रमात्मक मानते हैं, फिर जान-बूझकर रोते क्यों हैं ? इसके उत्तर में उन्होंने कहा कि रोना भी भ्रम ही है। सच है! भ्रमोत्पादक भ्रम-स्वरूप भगवान् के बनाये हुये भव (संसार) में जो कुछ है भ्रम ही है। जब तक भ्रम है तभी तक संसार है। वरञ्च संसार का स्वामी भी तभी तक है, फिर कुछ भी नहीं। और कौन जाने, हो तो हमें उससे कोई काम नहीं! परमेश्वर सबका भरम बनाये रक्खे, इसी में सब कुछ है! जहाँ भरम खुल गया कि लाख की भलमंसी खाक में मिल जाती है। जो लोग पूरे ब्रह्मज्ञानी बनकर संसार को सचमुच माया की कल्पना मान बैठते हैं वे अपनी भ्रमात्मक बुद्धि में चाहे अपने तुच्छ जीवन को साक्षात् सर्वेश्वर मानकर सर्वथा सुखी हो जाने का धोखा खाया करें; पर संसार के किसी काम के नहीं रह जाते हैं वरञ्च निरे अकर्त्ता, अभोक्ता बनने की उमंग में अकर्मण्य और 'नारि नारि सब एक हैं' इत्यादि सिद्धान्तों के मारे अपना तथा दूसरों का जो अनिष्ट न कर बैठें, वही थोड़ा है। क्योंकि लोक और परलोक का मज़ा भी धोखे ही में पड़े रहने से प्राप्त होता है। बहुत ज्ञान छाँटना सत्यानाशी की जड़ है! ज्ञान की दृष्टि से देखें तो आपका शरीर मलमूत्र, मांस, मज्जादि घृणास्पद पदार्थों

में भली अथवा बुरी नहीं होती; केवल उसके व्यवहार का नियम बनने-बिगड़ने से बनाव-बिगाड़ हो जाया करता है।

परोपकार को कोई बुरा नहीं कह सकता, पर किसी को सब कुछ उठा दीजिये, तो क्या भीख माँग के प्रतिष्ठा अथवा चोरी करके धर्म, खोइयेगा वा भूखों मरके आत्म-हत्या के पाप-भागी होइयेगा! यों ही किसी को सताना अच्छा नहीं कहा जाता है, पर यदि कोई संसार का अनिष्ट करता हो उसे राजा से दण्ड दिलवाइये वा आप ही उसका दमन कर दीजिये, तो अनेक लोगों के हित का पुण्य लाभ होगा।

घी बड़ा पुष्टिकारक होता है, पर दो सेर पी लीजिये तो उठने-बैठने की शक्ति न रहेगी, और संखिया-सींगिया आदि प्रत्यक्ष विष हैं, किन्तु उचित रीति से शोधकर सेवन कीजिये, तो बहुत-से रोग-दोख दूर हो जायँगे। यही लेखा धोखे का भी है। दो-एक बार धोखा खाके धोखेबाज़ों की हिकमतें सीख लो, और कुछ अपनी ओर से झपकी-फुँदनी जोड़कर 'उसी की जूती उसी का सिर' कर दिखाओ तो बड़े भारी अनुभवशाली वरञ्च 'गुरु गुड़ हो रहा, चेला शक्कर हो गया' का जीवित उदाहरण कहलाओगे। यदि इतना न हो सके तो उसे पास न फटकने दो तोभी भविष्य के लिए हानि और कष्ट से बच जाओगे।

योंही किसी को धोखा देना हो तो इस रीति से दो, कि तुम्हारी चालबाज़ी कोई भाँप न सके, और तुम्हारा बलि-

योरप के देशों की जो इतनी उन्नति है, तथा अमेरिका, जापान आदि जो इस समय मनुष्य-जाति के सिरताज हो रहे हैं, इसका यही कारण है कि उन देशों में लोग अपने भरोसे पर रहना या कोई काम करना अच्छी तरह जानते हैं। हिंदुस्तान का जो सत्यानाश है, इसका यही कारण है कि यहाँ के लोग अपने भरोसे पर रहना भूल ही गए। इसी से सेवकाई करना यहाँ के लोगों से जैसी खूबसूरती के साथ बन पड़ता है, वैसा स्वामित्व नहीं। अपने भरोसे पर रहना जब हमारा गुण नहीं, तब क्योंकर संभव है कि हमारे मे प्रभुत्व-शक्ति को अवकाश मिले।

निरी किस्मत और भाग्य पर वे ही लोग रहते हैं, जो आलसी हैं। किसी ने अच्छा कहा है—

'दैव-दैव आलसी पुकारा"।

ईश्वर भी सानुकूल और सहायक उन्हीं का होता है, जो अपनी सहायता अपने आप कर सकते हैं। अपने आप अपनी सहायता करने की वासना आदमी में सच्ची तरक्की की बुनियाद है। अनेक सुप्रसिद्ध सत्पुरुषों की जीवनियाँ इसके उदाहरण तो हैं ही, वरन् प्रत्येक देश या जाति के लोगों मे बल और ओज तथा गौरव और महत्त्व के आने का आत्मनिर्भरता सच्चा द्वार है। बहुधा देखने में आता है कि किसी काम के करने में बाहरी सहायता इतना लाभ नहीं पहुँचा सकती, जितनी आत्मनिर्भरता।

जोड़ है। उसी तरह जाति की अवनति जाति के एक-एक आदमी की सुस्ती, कमीनापन, नीची प्रकृति, स्वार्थ-परता और भाँति-भाँति की बुराइयों का बड़ा जोड़ है। इन्हीं गुणों और अवगुणों को जाति-धर्म के नाम से भी पुकारते हैं, जैसे सिक्खों में वीरता और जंगली असभ्य जातियों में लुटेरापन।

जातीय गुणों या अवगुणों को सरकारी कानून के द्वारा रोक या जड़-पेड़ से नष्ट-भ्रष्ट नहीं कर सकती, वे किसी दूसरी शक्ल में न सिर्फ़ फिर से उभड़ आवेंगे वरन् पहले से ज्यादा तरोताज़गी और हरियाली की हालत में हो जायेंगे। जब तक किसी जाति के हर एक व्यक्ति के चरित्र में आदि से मौलिक सुधार न किया जाय, तब तक पहले दर्जे का देशानुराग और सर्व-साधारण के हित की वांछा सिर्फ़ कानून के अदलने-बदलने से, या नए कानून के जारी करने से, नहीं पैदा हो सकती।

ज़ालिम-से-ज़ालिम बादशाह की हुकूमत में रहकर कोई जाति गुलाम नहीं कही जा सकती, वरन् गुलाम वही जाति है, जिसमें एक-एक व्यक्ति सब भाँति कदर्य, स्वार्थ-परायण और जातीयता के भाव से रहित है। ऐसी जाति जिसकी नस-नस में दास्य-भाव समाया हुआ है, कभी उन्नति नहीं करेगी, चाहे कैसे ही उदार शासन से वह शासित क्यों न की जाय। तो निश्चय हुआ कि देश की स्वतंत्रता भी नहीं

जोड़ है। उसी तरह जाति की अवनति जाति के एक-एक आदमी की सुस्ती, कमीनापन, नीची प्रकृति, स्वार्थ-परता और भाँति-भाँति की बुराइयों का बड़ा जोड़ है। इन्हीं गुणों और अवगुणों को जाति-धर्म के नाम से भी पुकारते हैं, जैसे सिक्खों में वीरता और जंगली असभ्य जातियों में लुटेरापन।

जातीय गुणों या अवगुणों को सरकारी क़ानून के द्वारा रोक या उलट-फेर से नष्ट-भ्रष्ट नहीं कर सकती, वे किसी दूसरी शक्ल में न सिर्फ़ फिर से उभड़ आवेंगे वरन् पहले से ज्यादा तरोताज़गी और हरियाली की हालत में हो जायँगे। जब तक किसी जाति के हर एक व्यक्ति के चरित्र में आदि से मौलिक सुधार न किया जाय, तब तक पहले दर्जे का देशानुराग और सर्व-साधारण के हित की वांछा सिर्फ़ क़ानून के अदलने-बदलने से, या नए क़ानून के जारी करने से, नहीं पैदा हो सकती।

ज़ालिम-से-ज़ालिम बादशाह की हुकूमत में रहकर कोई जाति गुलाम नहीं की जा सकती, वरन् गुलाम वही जाति है, जिसमें एक-एक व्यक्ति सब भाँति कदर्य, स्वार्थ-परायण और जातीयता के भाव से रहित है। ऐसी जाति जिसकी नस-नस में दास्य-भाव समाया हुआ है, कभी उन्नति नहीं करेगी, चाहे कैसे ही उदार शासन से वह शासित क्यों न की जाय। तो निश्चय हुआ कि देश की स्वतंत्रता ही नहीं

की जीवनियों के पढ़ने ही से नहीं, वरन् उन प्रसिद्ध पुरुषार्थी पुरुषों के चरित्रों का अनुकरण करने से मनुष्य में पूर्णता आती है।

योरप की सभ्यता, जो आज-कल हमारे लिये प्रत्येक उन्नति की बातों में उदाहरण-स्वरूप मानी जाती है, एक दिन या एक आदमी के काम का परिणाम नहीं है। जब कई पीढ़ी तक देश-का-देश ऊँचे काम, ऊँचे विचार और ऊँची वासनाओं की ओर प्रयत्न-चित्त रहा, तब वे इस अवस्था को पहुँचे हैं। वहाँ के हर एक संप्रदाय, जाति या वर्ण के लोग धैर्य के साथ धुन बाँध के बराबर अपनी-अपनी उन्नति में लगे हैं। नीचे-से-नीचे दर्जे के मनुष्य—किसान, कुली, कारीगर आदि—और ऊँचे-से-ऊँचे दर्जे वाले—कवि, दार्शनिक, राजनीतिज्ञ सबों ने मिलकर जातीय उन्नति को इस सीमा तक पहुँचाया है। एक ने एक बात को आरंभ कर उसका ढाँचा खड़ा कर दिया, दूसरे ने उसी ढाँचे पर आरूढ़ रहकर एक दर्जा बढ़ाया, इसी तरह क्रम-क्रम से कई पीढ़ी के उपरांत वह बात जिसका केवल ढाँचा-मात्र पड़ा था, पूर्णता और सिद्धि की अवस्था तक पहुँच गई।

ये अनेक शिल्प और विज्ञान, जिनकी दुनिया-भर में धूम मची है, इसी तरह शुरू किए गए थे और ढाँचा छोड़नेवाले पूर्व पुरुष अपनी भाग्यवान् भावी संतान को उस निर-

कौशल और विज्ञान की बड़ी भारी बपौती का उत्तराधिकारी बना गए थे।

आत्मनिर्भरता के संबंध में जो शिक्षा हमें खेतिहर, दूकानदार, बढ़ई, लोहार आदि कारीगरों से मिलती है, उसके मुक़ाबले में स्कूल और कालेजों की शिक्षा कुछ नहीं है; और यह शिक्षा हमें पुस्तकों या किताबों से नहीं मिलती, वरन् एक-एक मनुष्य के चरित्र, आत्म-दमन, दृढ़ता, धैर्य, परिश्रम, स्थिर अध्यवसाय पर दृष्टि रखने से मिलती है। इन सब गुणों से हमारे जीवन की सफलता है। ये गुण मनुष्य-जाति की उन्नति का छोर हैं और हमें जन्म में क्या करना चाहिये, इसका सारांश हैं।

बहुतेरे सत्पुरुषों के जीवन-चरित्र धर्म-ग्रंथों के समान हैं, जिनके पढ़ने से हमें कुछ-न-कुछ उपदेश ज़रूर मिलता है। बड़प्पन किसी जाति-विशेष या खास दर्जे के आदमियों के हिस्से में नहीं पड़ा। जो कोई बड़ा काम करे या जिससे सर्वसाधारण का उपकार हो, वही बड़े लोगों की कोटि में आ सकता है। वह चाहे ग़रीब-से-ग़रीब या छोटे-से-छोटे दर्जे का क्यों न हो, बड़े-से-बड़ा है। वह मनुष्य के तन में साक्षात् देवता है।

हमारे यहाँ अवतार ऐसे ही लोग हो गए हैं। सवेरे उठ जिनका नाम ले लेने से दिन भर के लिये मंगल का होना पक्का

समझा जाता है, ऐसे महामहिमशाली जिस कुल में जन्मते हैं, वह कुल उजागर और पुनीत हो जाता है। ऐसों ही की जननी वीरप्रसू कही जाती है। पुरुष-सिंह ऐसा एक पुत्र अच्छा, गीदड़ों की विशेषतावाले सौ पुत्र भी किस काम के!

---

# श्यामा की राम-कहानी

[ ठाकुर जगमोहन सिंह ]

पुराने टूटे फूटे दिवाले इस ग्राम ( श्यामापुर ) के ( ? ) प्राचीनता के साक्षी हैं। ग्राम के सीमांत के झाड़ जहाँ झुंड के झुंड कौवे और बकुले बसेरा लेते हैं गवँई की शोभा बताते हैं। प्यौ फटने और गोधूली के समय गैयों के खिरके की शोभा जिनके खुरों से उड़ी धूल ऐसी गलियों में छा जाती है मानो कुहिरा गिरता हो ये भी ग्राम में एक अच्छा समय होता है।

यहाँ के कोविद भरथरी—गोपीचन्द्र—भोज—विक्रम—( जिसे 'विकरमाजीत' कहते हैं ) लोरिक और चदैनी—मीराबाई—आल्हा—ढोलामारू—हरदौल इत्यादिकों की कथा के रसिक हैं। ये बिचारे सीधे-साधे बुड्ढे जाड़े के दिनों में किसी गरम कौंड़े के चारों ओर प्यार बिछा-बिछा के अपने परिजनों के साथ युवती और वृद्धा, बालक और बालिका,

युवा और वृद्ध सब के सब बैठ कथा कह-कह कर दिन बिताते हैं।

कोई पढ़ा-लिखा पुरुष रामायण और ब्रजविलास की पोथी बाँच कर टेढ़ा-मेढ़ा अर्थ कह सभों में चतुर बन जाता है। ठीक है—"निरस्तपादपे देशे एरण्डोऽपि द्रुमायते।"*

कोई लड़ाई का हाल कहते-कहते बेहाल हो जाता है, कोई किसी प्रेम कहानी को सुन किसी के (?) प्रबल वेदना को अनुभव कर आँसू भर लेता है, कोई इन्हें मूर्ख ही समझ कर हँस देता है। अहीर अहीरिनों से प्रश्नोत्तर सोल्हो में हुआ करते हैं।

धानों के खेत जो गरीबों के धन हैं इस ग्राम की शोभा बढ़ाते हैं। मेरा इसी ग्राम का जन्म है। मेरे पिता का वंश और गोत्र दोनों प्रशंसनीय हैं। मेरे पुरखा प्रथम तो ब्रह्मावर्त्त से उत्कल देश में जा बसे थे। वहाँ विचारे भले भले आदमियों का संग करते करते कुछ काल के अनन्तर उत्कल देश को छोड़ राजदुर्ग नामक नगर में जा बसे। उत्कल देश के जलवायु अच्छे न होने के कारण वह देश तजना पड़ा। ऋषिवंश के अवतंस हमारे प्रपितामहादिक पूजापाठ में अपने दिन बिताते रहे। कई वर्षों के अनन्तर दुर्भिक्ष पड़ा और पशु पक्षी मनुष्य इत्यादि सब व्याकुल होकर उदर-पोषण की चिंता में लग गये। उन लोगों की कोई जीविका तो रही नहीं

*जिस देश में पेड़ नहीं है, वहाँ एरण्ड ही पेड़ गिना जाता है।

और रही भी तो अब स्मृति पर भ्रांति का जलद पटल छा जाने के हेतु सब काल ने विस्मरण कर दिया। नदी नारे सूख गये। जनेऊ-सी सूक्ष्म धार बड़े बड़े नदों की हो गई। मही जो एक समय तृणों से संकुल थी बिल्कुल उस्से रहित हो गई। सावन के मेघ भयानक शरत्-कालीन जलदों की भाँति हो गये। प्यासी धरनी को देख पयोदों को तनिक दया न आई, पपीहा के पी-पी रटने पर भी पयोद न पसीजा और न उसके चंचु-पुट में एक बुन्द निचोया। इस धरनी के भूखे लोग क्षुधा से क्षुधित होकर व्याकुल घूमने लगे। गैयों की कौन दशा कहे ये तो पशु हैं। खेत सूखे-साखे रोड़ोंमय दिखाने लगे। शालि के अंकुर तक न हुए। किसानों ने घर की पूँजी भी गवाँ दी। बीज बोकर उसका एक अंश भी न पाया। "यह कलियुग नहीं, करजुग है, इस हाथ ले उस हाथ दे"—इस कहावत को भी झूठी कर दिया अर्थात् कृषी लोगों ने कितना ही पृथ्वी को बीज दिया पर उसने कुछ भी न दिया। छोटे-छोटे बालकों को उनकी माता थोड़े-थोड़े धान्य के पलटे ` लगी। माता-पुत्र और पिता-पुत्र का प्रेम जाता रहा।

बड़े धनाढ्य लोगों की स्त्रियाँ, जिनके पवित्र घूँघट कभी मर्यादा किसी के सम्मुख नहीं उघरे और जिन्हें आर्यावर्त की सुचाल ने अभी तक घर के भीतर रक्खा था, अपने पुत्रों के साथ बाहर निकल पथिकों के सामने रो-रो आँचर पसार पसार एक मुठी दाने के लिये करुणा करने लगीं। जब संसार

की ऐसी गति थी तो हमारे पूर्व पुरुषों की कौन गति रही होगी ईश्वर जाने। मैं न जाने किस योनि मे तब तक थी। जब वे लोग राज-दुर्ग में आये किसी भाँति अपना निर्वाह करने लगे। ब्राह्मण की सीधी-साधी वृत्ति से जीविका चलती थी। किसी को विवाह का मुहूर्त्त धरा—कहीं सत्यनारायण कहा—कहीं रुद्राभिषेक कराया—कहीं पिंडदान दिलाया और कहीं पोथी-पुरान कहा। द्वादशी का सीधा लेते लेते दिन बीते। इसी प्रकार जीविका कुछ दिन चली। मेरे पितामह वंश के हंस थे। उनका नाम अवधेश था। उनके दो विवाह हुए। उनकी दोनों पत्नी, अर्थात् मेरी पितामही, बड़ी कुलीना थीं। एक का नाम कौशल्या और दूसरी का अहल्या था। अवधेशजी को कौशल्या से एक पुत्र हुआ। उसका सब शिष्टों ने मिल कर इष्ट साथ वशिष्ठ सा वशिष्ठ नाम धरा। ये मेरे पूज्यपाद परमोदार परम सौजन्य सागर सब गुनों के आगर जनक थे। कुछ काल बीतने पर कौशल्या सुरपुर सिधारीं। उस समय मेरे पिता कुछ बहुत बड़े नहीं थे। शोकसागर में डूबे। पर दैव से किस का बल चल सकता है? थोड़े ही दिनों के उपरान्त भगवान् चक्रधर की दया से अहल्या को एक बालक और बालिका हुई। बालक का नाम नारद और बाला का गोमती पड़ा। यह वही गोमती मेरे बीच बैठी है। इस अभागिन के कुंडली में ऐसे काल वैधव्य जोग पड़े थे कि यह बिचारी अपना सोहाग खो बैठी। इन्हीं [illegible]

तक कहूँगी। अभागिनियों की भी कहानी कभी सुहानी होती है? मेरे पिता जब युवा हुए, अवगेन्द्र जी ने बड़े चाव से उनका विवाह शारंगपाणि की बेटी सुलक्षणा से करा दिया। शारंगपाणि का कुल इस देश के ब्राह्मणों में विदित है। 'यथा नाम तथा गुणाः' अतएव उनका कुछ बहुत विवरण न किया। कुछ काल बीते मेरी माता गर्भवती हुई। इस समय मेरे पितामह काल कर चुके थे। अपने नाती पन्ती का सुख देख सके। अहल्या भी अनेक तीर्थों का सलिलबुन्द पान करते, अपने तन को अनित्य जान, तीर्थाटन में लग गई थीं इसलिये इस समय घर में न थीं। नौ मास के उपरान्त दसवें मास में मेरे पिता के एक कन्या हुई। इसे लोग साक्षात् रमा का रूप कहते थे। यह जेठी कन्या थी। उसके अनन्तर एक कन्या और हुई, उसका नाम सत्यवती पड़ा। फिर [illegible] वर्षों में भगवान ने एक सुत का चन्द्रमुख दिखाया, [illegible] भवन में उजेला आ गया। गाजे-बाजे बजने लगे। जो [illegible] बन पड़ा दान पुण्य भिखारी और जाचकों को दिया। पुत्र नरक के तारने वाले बालक ने मेरी माता की [illegible] उजाड़ [illegible] थी। पर हाय 'मेटन [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]' विधाता से यह न सहा गया। [illegible] अर्थात् कुटिल काल ने इस [illegible]

"धिक धिक काल कुटिल जड़ करना
तुम अनीति जग जान न परना

माता विचारी डाह मार मार कर रोने लगी। घर में छोटे बड़े और टोला परोसियों के उत्साह भंग हो गये। जितने लोग पहले सुखी हुए थे उस्से अधिक दुःखी हुए। आँसुओं से सब घर भर गया। पिता हमारे ज्ञानी थे; आप भी ढाढ़स कर सबों को जेठे की भाँति प्रबोध किया और बालक का मृतक कर्म करने लगे। काल ऐसा है कि दुस्तर दुःख के घावों को भी पुरा देता है। जो आज था सो कल न रहा, कल था परसों न रहा। इस भाँति फिर सब भूल गये। पर पुत्र-शोक अति कठिन होता है। पिता के सदैव इसका काँटा छाती में समा गया। कभी सुखी न रहे। इस दारुण विपत्ति को स्मरण कर फिर भी सजल नैनों से हमारी माता की दशा देख विलाप करने लगते। फिर गिरस्ती में लोग लगे। कुछ काल के अनंतर उन्हें एक कन्या और हुई। इसका नाम पत्रिका के अनुसार सुशीला पड़ा, सो हे भद्र! देखो यही सत्यवती और सुशीला मेरी दोनों भगिनी सहोदरी हैं और मुझ अभागिन का नाम श्यामा है।

इतना कह चुप हो रही। इस नाम के सुनते ही मेरा करेजा कँप उठा और संज्ञा जाती रही। हाय हाय कहता भूमि में गिर पड़ा और स्वप्न तरंग में डूब गया।

[ श्यामा-स्वप्न ]

# स्वर्ग-सभा में नारद जी

[ पं० अम्बिकादत्त व्यास ]

ब्रह्माजी का संकेत पा श्रीनारदजी उठे और एक बेर दृष्टि फैला सब की ओर ताके। सब सभासद लोग भी उनकी रेशम सी छटकी पीली जटा, नाभि तक फैली धुने हुये नये कपास सी डाढ़ी, सुवर्ण ऐसा गौर दुर्बल अंग, खड़ाउओं के पास तक लटकता हुआ चमचमाता रेशमी वस्त्र, "हरे राम हरे कृष्ण" इन पवित्र भगवन्नामों से अंकित उत्तरीय, ललाट, बाहु, कंठ और हृदय पर लगे शंख चक्रादि चिह्न सहित ऊर्ध्वपुण्ड्र तिलक, वक्षःस्थल तक लटकती तुलसी औ कमलाक्ष मालाओं की लड़ी और सुर औ ताल की कावड़ ऐसी बीन देखते, महाभागवत श्रीनारदजी को देख भगवत्स्मरण के आनन्द में डूबे एक टक देखते ही रह गये।

तब नारदजी ने सब की एकाग्रता से प्रसन्न हो वीणा की ओर दृष्टि फेरी और उसे यथोचित रीत से धारण कर बायें

हाथ की तर्जनी मध्यमा से उसके प्रधान तार को मंदस्वर के षड्ज पर दबा दहिने हाथ की तर्जनी से झनत्कार कर बजाया, और दहिने बायें हाथ की और अंगुलियों से और भी अनेक ऊँचे नीचे स्वरों में मिले तार झनकारे, वह करोड़ों प्रणवों का-सा मधुर नाद हुआ कि मानो उसने सभा पर वशीकरण मंत्र मार दिया। इतने में उसी स्वर को फिर धीरे धीरे झनकारते उसमे मिल नारदजी ने "हरे कृष्ण नारायण" इस मधुर शब्द का उच्चारण किया। कहाँ तो यह अमृत के रस को भी तुच्छ करता हुआ स्वयं मधुरतम भगवन्नाम कि चंडाल के मुख से निकले तो भी आनंदकंद ही का अनुभव कराये और तिस पर भागवतों के शिरोधार्य श्रीनारदजी के मुख से निकला, तिस पर भी ऐसे समय कि जब वीणा-स्वन सुन पहिले ही से सब एकाग्र हो रहे हैं! बस, क्या जाने क्या हुआ कि ज्यों इस नाम की ध्वनि धीरे धीरे तरंगित होती गगन-तल में फैली कि सब का शरीर अचानक रोमांचित हो गया और कुछ कुछ स्वेद और कंप और परवशता सब के अङ्गों में समा गई और ज्यों के त्यों सिंहासन पर लटके चित्र के-से लिखे हो गये, तब श्रीनारद जी ने थोड़ी देर तक हरि नाम ही का मंगल-गान किया और संग संग वीणा-वादन किया। फिर सब के समाधिस्थ-से हो जाने पर नारदजी भी बड़े कष्ट से उस हरिनाम गान

विश्राम कर उसी श्याममूर्त्ति को हृदय में धारण किये हुये बोले कि—

"सभ्यगण ! आप लोगों ने जो कहा सो सब यथार्थ ही है। पर मैं बराबर ही घूमता ही रहता हूँ, इस कारण मैं समझता हूँ कि मैं भारतवर्षियों की अवस्था विशेष यथार्थ रूप से जानता हूँ। उन लोगों की क्या दशा है सो संक्षेप से कहता हूँ, सुनिये—आदि वर्ण ब्राह्मण हैं, सो पहिले इन्हीं से आरम्भ कीजिये। कहाँ तो महाराज युधिष्ठिर का भी एक समय था कि साक्षात् धर्मस्वरूप महाराजाधिराज युधिष्ठिर ऐसे महाराज जिस समय धर्मराज्य करते थे और श्रीकृष्ण और बलभद्र के ध्वज वज्रांकुश वाले चरण-चिह्नों से पृथ्वी शोभित थी, उस समय महाराज युधिष्ठिर ने राजसूय यज्ञ किया और अच्छे अच्छे प्रतिष्ठित विद्वान् ब्राह्मणों को निमन्त्रण किया, परन्तु उन लोगों ने साफ जवाब दिया कि हम राजधान्य ग्रहण नहीं करेंगे, क्योंकि "राज्यान्ते नरकं व्रजेत्" जहाँ कोई मारा जाता है, कोई उजाड़ा जाता है, कोई लूटा जाता है, उस राज्य का धान्य हम नहीं खाते। जिस संपत्ति के आश्रय से पहिले दुर्योधनादि सहस्रों पाप कर चुके हैं और फिर युधिष्ठिर ने अठारह अक्षौहिणियों की रुधिर नदी बहा दी उस हत्यारी संपत्ति का अन्न हम नहीं खाते। यह साफ़ फटकार सुन युधिष्ठिरजी श्रीकृष्णजी के समीप जा प्रणाम कर आँखों में आँसू भर बैठे और लगे रोने। तब

श्रीकृष्णजी ने कहा कि, कहो युधिष्ठिर! राज्य पा चुके! राजसूय कर रहे हो! हज़ारों लाखों वीर हाथ जोड़े तुम्हारे सामने खड़े रहते हैं, जिधर कुछ भी भौंह टेढ़ी करते हो उधर के वृक्ष और पहाड़ तक काँप उठते हैं, फिर उदास क्यों? आश्चर्य है कि जब तुम जंगल में रहते थे और धूल में सोते थे, चीर वस्त्र धारण करते थे, जंगली जंतुओं के कोलाहल सुन जागते थे और हरिण भालुओं को देख-देख दिन बिताते थे उसी समय हम सदा तुम्हारा मुख-मंडल प्रसन्न देखते थे और तुम्हारे मुख पर अपूर्व तेज झलकता था परन्तु जब से तुम चक्रवर्ती के सिंहासन पर उस मोतियों की झालरवाले श्वेत छत्र की छाया में बैठे हो, तब से तुम को सदा उदास ही उदास देखते हैं, सो कहो तो इसका क्या कारण है और इस समय क्या दुर्घटना भई है कि तुम्हारी आँखों से आँसू टपटपा रहे हैं। यह सुन युधिष्ठिर से नहीं रहा गया और एक बेर मुक्त-कंठ से रोने लगे। फिर बहुत समझाने-बुझाने पर आँसू पोंछ उदासी से भर बोले कि प्रभो! इससे बढ़ कर क्या तिरस्कार होगा कि मैं निमंत्रण देता हूँ, पर ब्राह्मण लोग मेरे यहाँ का अन्न ग्रहण करना स्वीकार नहीं करते! मेरा अन्न इतना अपवित्र समझा गया और मैं इतना तुच्छ समझा गया, मुझे यही दुःख है!!

यह सुन ऊँची सांस ले श्रीकृष्णजी ठठक गये। उनके भी नेत्रों से आँसुओं की धारा ढलक पड़ी। तब युधिष्ठिर ने हाथ

करना उचित है, पर इन दिनों के धनिक वैश्यगण उसको अपना ही आहार समझते हैं और उसे आदर से बुला, अतर पान खिला, मीठी-मीठी बातें कर उसका घर खेत ज़मींदारी आदि यहाँ तक कि उसका शरीर तक रेहन में लिखवा कर चाँदी का छुर्रा मारते हैं और 'स्टाम्प' में ऐसी ऐसी हेर-फेर की बातें लिखवाते हैं कि अवश्य ही वह रुपया न दे सकै और एक दिन अपना घर-बार इनके हाथ खोकर गली-गली भीख माँगे। ब्याज खानेवालों का हृदय ही पापी हो जाता है। सो धन्य हैं यवन लोग कि अपने धर्म से इसका निषेध किया। और हमारे वैश्यों की अकर्मण्यता तो देखिये—पास में लाखों करोड़ों रुपये हैं, जिनसे बड़े-बड़े वाणिज्य कर सकते हैं, पर आप धोती ढीली किये तोंद छुटका अपने ही ऐसे मोटे तकिये पर लुढ़के बैठे हैं! और रुपये भाड़े पर दे रहे हैं! इन्हीं के आलस्य से भारतवर्ष निर्धन हो गया। अब रहे शूद्र, सो बिचारे क्या करैं? उनका जीवन तो ब्राह्मण क्षत्रिय, वैश्य के अधीन था सो वे मिल के शूद्र का कर्म तक छीन जूतों की दूकान तक खोलने लगे, तब ये बिचारे क्या करें? ये भी वैश्य, क्षत्रिय और ब्राह्मण तक बनने का उद्योग करने लगे! देवगण! यह तो आप लोगों के पूछने से मैंने कुछ वर्णन कर दिया है। मैं तो साधु हूँ, मुझे इन बखेड़ों से क्या काम? मेरा तो सिद्धान्त है कि "जाति-पाँति पूछै नहिं कोई। हरि को भजै सो हरि का होई।"

"हरे कृष्ण हरे कृष्ण, कृष्ण कृष्ण हरे हरे।
हरे राम हरे राम, राम राम हरे हरे ॥"

कहते हुए नारदजी तो प्रेम में डूब वीणा बजाते आनंदाश्रु टपकाते झूमने लगे, और देवगण धीरे धीरे आनंद में मगन होते-होते ऐसे डूबे कि सब को अपनी सुधि भूल गई। वाह रे हरिनाम, क्या आश्चर्य है! क्या ही जादू है कि सुनते ही पत्थर तो चेतन की भाँति पिघल उठते हैं और चेतन पत्थर की भाँति जड़ हो जाते हैं! आहा! इस समय समूची देवसभा ठटक गई। किसी को किसी की सुधि नहीं। सब को रोमांच हो गया। सब के नेत्रों से अविरल जल-धारा का प्रवाह चल पड़ा। अनिमिष देवताओं को पलक तो है ही नहीं, पर भ्रुकुटि के मध्य में सब की दृष्टि लीन हो गई और चारों ओर एक विचित्र सन्नाटा-सा हो गया। ब्रह्माजी के आठों नेत्रों से आनंदाश्रुधारा का प्रवाह चल पड़ा और वह प्रवाह डाढ़ी के केशाग्रों से बिन्दु-बिन्दु हो चारों ओर टपकने लगा। भैरवजी और कालीजी के तीनों नेत्रों के आँसुओं से कपोल और नासिका स्नान हो गया। सरस्वती के नेत्रों से ऐसी बूँदें गिरने लगीं कि मानो हंस के लिए मोती बरसाती हों और हंस की चोंच पर होकर आँसू के बहाने मोती की लड़ी-सी लटक गई। चंद्रमा के

* भाव [illegible]—"जो न [illegible] को।
[illegible], पर [illegible] है।"

भी नेत्रों से अमृत-सा चू चला। और इन्द्र तो सहस्र नेत्रों के प्रवाह के कारण एकाएकी नहा से उठे। बस, नारदजी भी हरिनाम कहते आनन्द में झूमते झुक कर उसी सिंहासन पर छाती से वीणा लगा पीछे उठंग गये और समूची सभा आनन्द की निद्रा में आधे घंटे के लिये निद्रित-सी हो गई।

[ पीयूष-प्रवाह ]

# फ़ा-हियान की भारत-यात्रा

[ पं॰ महावीरप्रसाद द्विवेदी ]

प्राचीन भारत के इतिहास का थोड़ा-बहुत पता जो हमें लगता है वह ग्रीक और चीनी यात्रियों के यात्रा-वृत्तान्त से लगता है। ग्रीकवाले इस देश में सैनिक, शासक, अथवा राजदूत बनकर आते थे। इसी से उनके लेखों में अधिकतर भारतीय राजनीति, शासन-पद्धति और भौगोलिक बातों ही का उल्लेख है। उन्होंने भारतीय धर्म और शास्त्रों की छान-बीन करने की विशेष परवा नहीं की। चीनी यात्रियों का कुछ और ही उद्देश था, वे विद्वान् थे। उन्होंने हज़ारों मीलों की यात्रा इसलिए की थी कि वे बौद्धों के पवित्र स्थानों का दर्शन करें, बौद्ध-धर्म की पुस्तकें एकत्र करें और उस भाषा को पढ़ें जिसमें वे पुस्तकें लिखी गई थीं। इन यात्राओं में उनको नाना प्रकार के शारीरिक क्लेश सहने पड़े, कभी वे लूटे गये, कभी वे रास्ता भूलकर भयङ्कर स्थानों में भटकते

भी नेत्रों से अमृत-सा चू चला। और इन्द्र तो सहस्र नेत्रों के प्रवाह के कारण पनारे-सी नहा से उठे। बस, नारदजी भी हरिनाम कहते आनन्द में झूमने शुरू कर उसी शिलासन पर छाती से वीणा लगा पीछे उठंग गये और सम्पूर्ण सभा आनन्द की निद्रा में आधे घंटे के लिये निद्रित-सी हो गई।

[ पीयूष-प्रवाह ]

फिरे और कभी उन्हें जङ्गली जानवरों का सामना करना पड़ा। परन्तु इतना सब होने पर भी वे केवल शिक्षा और धर्म-प्रेम के कारण भारतवर्ष में घूमते रहे। चीनी यात्रियों में तीन के नाम बहुत प्रसिद्ध हैं—पहला फ़ा-हियान, दूसरा संगयान और तीसरा हेनसाँग। इन तीनों ने अपनी-अपनी यात्रा का वृत्तान्त लिखा है। उसका अनुवाद अँगरेज़ी, फ्रेंच आदि यूरप की भाषाओं में हो गया है। इनसे भारतीय सभ्यता का बहुत कुछ पता चलता है। प्रसिद्ध चीनी यात्रियों में फ़ा-हियान सब से पहले भारत में आया। इसी की यात्रा का संक्षिप्त हाल यहाँ लिखा जाता है। फ़ा-हियान मध्य-चीन का निवासी था। ४०० ई० में वह अपने देश से भारत-यात्रा के लिए निकला। इस यात्रा से उसका मतलब बौद्ध-तीर्थों के दर्शन और बौद्ध-धर्म की पुस्तकों का संग्रह करना था। उन दिनों चीन से भारतवर्ष आने को दो रास्ते थे। एक रास्ता खुतन नगर के पश्चिम से होता हुआ भारतीय सीमा पर पहुँचता था। यह रास्ता कुछ चक्कर का था। इसी से भारत और चीन के मध्य व्यापार होता [illegible]। दूसरा रास्ता जल द्वारा जावा और लङ्का के टापुओं से [illegible]र था। यह रास्ता पहले से सीधा तो था, परन्तु पीत [illegible]द्र के तूफ़ानों ने इस सुगम जलमार्ग को बड़ा भयानक [illegible]ना रक्खा था। फ़ा-हियान निडर मनुष्य था। वह भारत आया तो खुतन के रास्ते ही से, परन्तु स्वदेश को लौटा

लङ्का और जावा के रास्ते। फ़ा-हियान के साथ और भी कितने ही यात्री थे। खुतन पहुँचने के लिए लाप नामक जङ्गल से होकर जाना पड़ता था। इस जङ्गल में यात्रियों को बड़ा कष्ट सहना पड़ता. कोसों पानी न मिलता। सूर्य की गरमी ने और भी ग़ज़ब ढाया। प्यास के मारे यात्रियों का बुरा हाल हुआ। समय-समय पर रास्ता भूल जाने के कारण भी उन पर बड़ी विपत्ति पड़ी। जब वे किसी तरह लाप नामक झील के किनारे पहुँचे तब उनकी बड़ी बुरी दशा थी। कितने ही यात्रियों के छक्के छूट गये और उन्होंने आगे बढ़ने का विचार छोड़ दिया। पर फ़ा-हियान ने हिम्मत न हारी। वह दो-चार मित्रों-सहित आगे बढ़ा और नाना प्रकार के कष्टों को सहता हुआ दो मास में खुतन पहुँचा। लोगों ने खुतन में उनका अच्छा आदर-सत्कार किया। उस समय खुतन एक हरा-भरा बौद्ध-राज्य था, इस समय खुतन उजड़ा पड़ा है। पर हाल ही में डाक्टर स्टीन ने उसकी पूर्व समृद्धि के बहुत से चिह्न पाये हैं। प्राचीन महलों, स्तूपों, विहारों और ग्रामों के न मालूम कितने चिह्न उन्हें मिले हैं। उन्होंने इस सम्बन्ध में एक पुस्तक लिखी है, जो बड़े महत्त्व की है। खुतन से फ़ा-हियान काबुल आया। उस समय काबुल उत्तरीय भारत के अन्तर्गत था। काबुल से वह स्वात गान्धार और तक्षशिला होता हुआ पेशावर पहुँचा। पेशावर में उसने एक बड़ा ऊँचा, सु[illegible] और मज़बूत बौद्ध-स्तूप देखा। सिन्धु
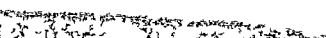
बुद्ध-वृक्ष के भी उसने दर्शन किये। लङ्का में उसने कुछ और भी धर्म-पुस्तकों का संग्रह किया। लङ्का का वर्णन वह इस प्रकार करता है—

"लङ्का में पहले बहुत कम मनुष्य रहते थे। धीरे-धीरे व्यापारी लोग यहाँ आने लगे। अन्त में वहीं यहाँ बस गये। इस प्रकार यहाँ की आबादी बढ़ी और राज्य की नींव पड़ी। यहाँ भगवान् बुद्ध आये*। उन्होंने यहाँ के निवासियों को बौद्ध बनाया। लङ्का का जल-वायु अच्छा है। सब्ज़ी बहुत होती है। राजधानी के उत्तर में बड़ा ऊँचा स्तूप है। समीप ही एक सङ्घाराम भी है जिसमें ५००० साधु रहते हैं।"

फ़ा-हियान लङ्का में दो वर्ष रहा। उसे स्वदेश छोड़े बहुत वर्ष हो गये थे, इससे उसने चीन लौट जाने का विचार किया। उसी समय एक व्यापारी ने उसे चीन का बना हुआ एक पङ्खा भेंट किया। अपने देश की बनी हुई वस्तु देखकर फ़ा-हियान का जी भर आया। उसके नेत्रों से अश्रु-धारा बह निकली। अन्त में उसे स्वदेश लौट जाने का एक साधन भी प्राप्त हो गया। एक जहाज़ दो सौ यात्रियों-सहित उस ओर जाता था। वह भी उसी पर बैठ गया। जहाज़ को हलका करने के लिए खलासी जहाज़ पर लदी हुई चीज़ों को समुद्र में फेंकने लगे। बहुत माल-असबाब फेंक दिया गया। फ़ा-हियान ने अपने सारे बर्तन तक समुद्र

* भगवान् बुद्ध लङ्का कभी नहीं गये।

# रानी दुर्गावती

[ पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी ]

जिस समय अकबर बादशाह की यशःपताका हिमालय से लेकर बङ्गाले की खाड़ी तक फहरा रही थी उसी समय जबलपुर के पास गढ़मण्डल या गढ़मण्डला में एक छोटी सी माण्डलिक रानी के स्वातन्त्र्य की अग्निकणा दूर-दूर तक अपना प्रकाश फैला रही थी। बड़े-बड़े प्रतापी राजा जिस के बल-विक्रम को नहीं सह सके उसी बल-विक्रम की अवहेलना गढ़मण्डल की अधीश्वरी ने निडर होकर की। जब यह विचार करते हैं कि गढ़मण्डल के सिंहासन पर एक कोमलाङ्गिनी कामिनी विराजमान थी तब हमारे आश्चर्य की सीमा और भी अधिक हो जाती है।

कन्नौज के राजा चन्दनराय के एक कन्या थी। उसका नाम था दुर्गावती। जब वह यौवनवती हुई तब उसके पिता ने राजपूताना के किसी राज-कुमार की गृह-लक्ष्मी बनाना

चाहा; परन्तु दुर्गावती ने गढ़मण्डल के
की वीरता पर मुग्ध होकर उसी को अ
पिता ने यह बात, किसी कारण-विशेष से
दलपतिशाह ने जब यह समाचार सु
बाहु-बल से उस कन्या रत्न को प्राप्त कर
और दलपतिशाह में संग्राम हुआ। अ
साथ लक्ष्मी-रूपा दुर्गावती भी दलपतिशा

गढ़मण्डल में पहुँच कर दुर्गावती
विधि-पूर्वक विवाह हुआ और वे दोनों
लगे। कुछ काल के अनन्तर दुर्गावती ग
समय उस के वीरनारायण नामक एक पु
समय वीरनारायण केवल तीन वर्ष का
गढ़मण्डल का राज-सिंहासन सूना
दलपतिशाह परलोक-वासी हुआ। पति के
को परम शोक हुआ, परन्तु पुत्र के मु
और अपने कुटुम्बियों की की हुई सा
कुछ धैर्य हुआ। पर तन-मन से राज-
रानी दुर्गावती ने बड़ी योग्यता से र
आरम्भ किया। वह प्रजा के सुख-दु
और राज्य को शत्रुओं से रक्षित रखने
सेना को भी सुधारती जाती थी। उ
किसी न किसी दिन मुसल्मान अधिर

उसके छोटे से राज्य पर अवश्य पड़ेगी। इसलिए वह समराङ्गण में सेना सहित उतरने की तैयारी बराबर करती जाती थी। साथ ही साथ प्रजा को प्रसन्न रखने के लिए उस के मङ्गल-विधान की ओर भी वह अपनी दृष्टि रखती थी। स्थान-स्थान पर उसने कुएँ और तालाब खुदवाये और अनाथों को आश्रय देने के लिए अनेक उपाय किये। शिल्प और वाणिज्य की ओर भी उसने ध्यान दिया। सारांश यह कि अपनी प्रजा को सुखी करने के लिए उसने कोई उपाय बाक़ी न रक्खा।

दुर्गावती की योग्यता, देश-रक्षा के लिए उसकी तत्परता तथा उसकी प्रजा-वत्सलता आदि के विषय में अकबर के अधिकारियों ने उसे अनेक बातें सुनाईं और गढ़मण्डल को अपने अधीन कर लेने के लिए बहुत बार प्रार्थना की किन्तु उदार-हृदय अकबर ने वैसा करना उचित न समझा। तथापि कोमल रस्सी की रगड़ लगने से कठोर पत्थर भी घिस जाता है; अनेक बार परामर्श दिये जाने पर अकबर की भी लोभ-लिप्सा जाग उठी। आसफ़खाँ नामक एक सरदार को गढ़मण्डल पर चढ़ाई करने के लिए उसने आज्ञा दे दी। एक विधवा और अनाथ अबला का राज्य छीन लेने के लिए दिल्ली के दुर्दमनीय बादशाह का चढ़ाई करना क्या कोई कीर्त्ति-कारिणी बात है? लोभ मनुष्यों का परम शत्रु है। एक सामान्य मनुष्य से लेकर सम्राट् तक को भी वह नहीं छोड़ता!

इसी लोभ के वशीभूत होकर एक अवला के साथ संग्राम-रूपी अनुचित कर्म करने के लिए अकवर के समान विचारवान् और वलशाली वादशाह ने ठान ठन दिया।

रानी दुर्गावती को जव यह समाचार मिला तव दुर्बल चित्त अवला के समान वह भयभीत नहीं हुई; किन्तु सिंहनी के समान क्षुब्ध और क्रुद्ध होकर उसने अपने क्षत्रियत्व का परिचय देना चाहा। वह जानती थी कि महा-प्रतापशाली दिल्लीश्वर के सम्मुख वह कभी भी जय-लाभ न कर सकेगी; तथापि भिन्न धर्मियों के हाथ में आत्म-समर्पण करने की अपेक्षा, अपने देश की रक्षा के निमित्त, वीर नारी के समान रण-क्षेत्र में प्राण देना ही उसने उचित जाना। रानी दुर्गावती के इस संकल्प को सुन कर उसकी प्रजा भी, जन्म-भूमि की स्वाधीनता वचाने के लिए, वद्ध-परिकर हुई। पुरुष-मात्र, जिनके वाहु-युगल खड्ग-धारण में समर्थ थे, रानी की पताका के नीचे खड़े होकर, जय-लक्ष्मी की प्राप्ति की लालसा से अपने शस्त्र चमकाने लगे। देखते ही देखते आठ सहस्र अश्वारोही आकर वहाँ उपस्थित हो गये और रानी दुर्गावती, मुण्ड-मालिनी चामुण्डा के समान—तुरगारूढ़ होकर, अपनी सेना के सहित संग्राम-भूमि में आ उतरी।

उधर आसफखाँ ने यह सोच रक्खा था कि दिल्लीश्वर के प्रचण्ड प्रताप की ज्वाला से भय-भीत होकर दुर्गावती अवश्य ही आत्म-समर्पण करेगी। अथवा यदि वह युद्ध

करेगी तो क्षण-मात्र ही में उसकी सेना नष्ट हो जायगी। यही समझ कर उसने केवल पाँच सहस्र अश्वारोही सेना अपने साथ ली। रणक्षेत्र में आकर उसे अपने भ्रम का ज्ञान हुआ, परन्तु उस समय क्या हो सकता था। वीर रानी के उत्साह-वाक्यों से उत्साहित होकर गढ़मण्डल की सेना शत्रुओं को निर्दयता-पूर्वक काटने लगी। रानी के सैन्य का दुःसह तेज न सह कर विपक्षी भाग निकले और आसफखाँ बड़ी कठिनाई से अपने प्राण बचाने में समर्थ हुआ। विजय-लक्ष्मी को साथ लेकर रानी दुर्गावती गढ़मण्डल को लौट आई।

आसफ़खाँ के भाग आने का समाचार यथासमय अकबर को मिला। सुन कर वह बहुत लज्जित हुआ और डेढ़ वर्ष के अनन्तर विपुल सैन्य के साथ आसफ़खाँ को फिर उसने गढ़मण्डल पर आक्रमण करने के लिए भेजा। इस बार भी रानी दुर्गावती की सेना ने पूर्ववत् ही प्रचण्ड बल-विक्रम से संग्राम किया। फिर भी दुर्गावती के तेजोवह्नि में शत्रु की सेना पतङ्ग के समान दग्ध हो गई। जो कुछ बची वह आसफ़खाँ के साथ भाग निकली। आसफ़खाँ को इस दूसरी हार से अत्यधिक लज्जा हुई। उसने अकबर को मुँह दिखलाना उचित न समझा। उसी ने लोभ दिला कर गढ़मण्डल पर आक्रमण करने के लिए अकबर को उकसाया था; अतएव उसे अब यह चिन्ता हुई कि किस प्रकार वह अपनी इस कलङ्क-कालिमा का प्रक्षालन करे। वह यह जानता

था कि जब तक रानी दुर्गावती का एक भी योद्धा जीवित है तब तक वह कभी भी गढ़मण्डल का समर्पण न करेगी। इसलिए सरल मार्ग छोड़ कर आसफ़खाँ ने कूट-नीति का अवलम्बन किया। गढ़मण्डल में उसने विश्वास-घात का बीज बोया। वह बीज लोभ-रूप जल के सिञ्चन से अंकुरित होकर शीघ्र ही एक प्रचण्ड पेड़ हो गया। खेद है, विश्वास-घातक वृक्ष को उखाड़ने में रानी समर्थ न हुई।

अपने राज्य में गृह-विवाद की भयानक मूर्त्ति देख कर रानी डर गई। उसने जान लिया कि युद्ध में अब विजय की कोई आशा नहीं। तथापि वह अन्यायी आसफखाँ के साथ धर्म-संग्राम करने से फिर न हिचकी। जो लोग उस के साथ संग्राम में प्रसन्नता-पूर्वक उपस्थित होने को सम्मत हुए उनको और अपने एक-मात्र पुत्र वीरनारायण को लेकर वह रण-क्षेत्र की ओर इस बार भी प्रस्थानित हुई। अन्त में महा-लोमहर्षण युद्ध हुआ। परन्तु इस बार आसफ़खाँ के सैन्य की संख्या अपरिमित थी। प्रातःकाल से सायंकाल पर्यन्त युद्ध करके भी रानी को जय-लाभ न हुआ। उसने जान लिया कि उसे विजय-लक्ष्मी इस बार नहीं मिल सकती। इसी समय उसने देखा कि १४ वर्ष का उसका प्रियतम पुत्र वीरनारायण घायल होकर घोड़े से गिरा। उसकी सेना के कई पुरुषों ने उसे सुरक्षित स्थान पर पहुँचा कर रानी से प्रार्थना की कि इस अन्तिम समय में एक ब

आप अपने पुत्र से मिल लीजिए। रानी ने उत्तर दिया—"यह समय पुत्र से मिलने का नहीं; यदि मैं रण-भूमि छोड़ूँगी तो यहाँ मुझे न देखकर सेना अस्त-व्यस्त हो जायगी। यदि पुत्र का अन्त-काल उपस्थित ही है तो मुझे हर्ष है कि उस ने वीर-धर्म का पालन किया, वीर के समान उसने गति पाई। वह और मैं, दोनों शीघ्र ही पर-लोक में फिर मिलेंगे। यह समय मिलने का नहीं।" धन्य रानी की वीरता और धन्य उसकी धर्म-निष्ठा! अन्त में युद्ध करते करते रानी की आँख में एक तीक्ष्ण बाण प्रवेश कर गया। उस बाण को रानी ने बाहर निकालना चाहा, परन्तु वह सफल-मनोरथ न हुई। तब उसने जीवन से निराश होकर बड़ी क्रूरता से विपक्षियों का संहार आरम्भ किया। जब रानी ने देखा कि अब वैरियों के द्वारा पकड़े जाने का भय है तब गढ़मण्डल की ओर एक बार देख कर अपने ही खड्ग से अपने सिर को उसने धड़ से अलग कर दिया। रानी का मृतक शरीर शत्रुओं के हाथ न लगे, इसलिए सेना ने उसे शीघ्र ही दूसरे स्थान पर पहुँचा दिया। वहाँ दुर्गावती और वीरनारायण की साथ ही अन्तिम क्रिया हुई।

इधर गढ़मण्डल ने आसफ़ख़ाँ के अधीन होकर अकबर के राज्य की सीमा बढ़ाई।

यह भारतवर्ष ही एक ऐसा देश है जहाँ पुरुषों की तो

गिनती ही नहीं कोमल-कलेवरा कामिनियाँ भी वीरता के ऐसे ऐसे काम कर गई हैं जिनका स्मरण होते ही बड़े-बड़े शूरवीरों को भी दाँतों तले उँगली दबानी पड़ती है। भारत! किसी समय वीरता में तू इस भूमण्डल में एक ही था।

लिए जो आदर्श अपेक्षित हैं वे सब स्पष्ट रूप में, प्रचुर परिमाण में श्रीकृष्ण-चरित्र में विद्यमान हैं। ध्यानी, ज्ञानी, योगी, कर्मयोगी, नीति-धुरन्धर नेता और महारथी योद्धा, जिस दृष्टि से देखिये, जिस कसौटी पर कसिये, श्रीकृष्ण अद्वितीय ही प्रतीत होंगे। संस्कृत भाषा का साहित्य कृष्ण-चरित्र की महिमा से भरा पड़ा है। पर दुर्भाग्य से हम उसके तत्त्व को हृदयंगम नहीं करते। हम 'आदर्श' का अनुकरण करना नहीं चाहते, उल्टा उसे अपने पीछे घसीटना चाहते हैं और यही हमारी अधोगति का कारण है। यदि हम कर्मयोगी भगवान् कृष्ण के आदर्श का अनुकरण करते तो आज इस दयनीय दशा में न होते। कृष्ण-चरित्र के सर्व-श्रेष्ठ लेखक श्रीबंकिमचन्द्र ने एक जगह खिन्न होकर लिखा है—

"जब से हम हिन्दू अपने आदर्श को भूल गये और हमने कृष्ण-चरित्र को अवनत कर लिया तब से हमारी सामाजिक अवनति होने लगी। जयदेव ( गीतगोविन्द-निर्माता ) के कृष्ण की नकल करने में सब लग गये पर 'महाभारत के' कृष्ण की कोई याद भी नहीं करता है।"

× × × ×

"सनातन-धर्मद्वेषी कहा करते हैं कि भगवच्चरित्र की कलुषित कल्पना करने के कारण ही भारतवर्ष में पाप का ... बढ़ गया है। इसका प्रतिवाद कर किसी को कभी जय

प्राप्त करते नहीं देखा है ! मैं श्रीकृष्ण को स्वयम् भगवान् मानता हूँ और उन पर विश्वास करता हूँ, अँग्रेज़ी शिक्षा से मेरा यह विश्वास और दृढ़ होगया है। पुराणों और इतिहास में भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र के चरित्र का वास्तव में कैसा वर्णन है यह जानने के लिए मैंने जहाँ तक बना इतिहास और पुराणों का मन्थन किया। इसका फल यह हुआ कि श्रीकृष्णचन्द्र के विषय में जो पाप-कथाएँ प्रचलित हैं वे अमूलक जान पड़ी। उपन्यासकारों ने श्रीकृष्ण के विषय में जो मनगढ़न्त बातें लिखी हैं उन्हें निकाल देने पर जो कुछ बचता है वह अति विशुद्ध, परम पवित्र, अतिशय महान् मालूम हुआ है। मुझे यह भी मालूम होगया है कि ऐसा सर्वगुणान्वित और सर्वपाप-रहित आदर्श चरित और कहीं नहीं है, न किसी देश के इतिहास मे और न किसी काव्य में।"

श्रीकृष्ण-चरित्र का मनन करनेवालों को श्रीबंकिमचन्द्र की उक्त सम्मतियों पर गम्भीरता से विचार करना चाहिये। भगवान् श्रीकृष्ण के चरित्र के रहस्य को अच्छी तरह समझ कर उसके आधार पर यदि हम अपने जाति-जीवन का निर्माण करें तो सारे सकट दूर हो जायँ। उदाहरण के तौर पर नेताओं को लीजिये। आज-कल हमारे देश में नेताओं की बाढ़ आई हुई है, जिसे देखिये वही 'सार्वभौम नेता' नहीं तो 'आल-इण्डिया लीडर' है। इस बाढ़ को देखकर चिन्ता के स्वर मे कहना पड़ता है—

श्रीकृष्ण को वहाँ जाने से रोका। श्रीकृष्ण स्वयं भी सब कुछ समझते थे, पर वह जिस काम को आये थे उसके लिए एक बार फिर प्राणपण से प्रयत्न करना ही उन्होंने उचित समझा। वह दुर्योधन के घर पहुँचे और निर्भयता-पूर्वक सन्धि का औचित्य समझाया। पाण्डवों की निर्दोषता और दुर्योधन का अन्याय प्रमाणित किया, पर दुर्योधन किसी तरह न माना। श्रीकृष्ण उसे फटकार कर चलने लगे, दुर्योधन ने भोजन के लिए आग्रह किया, इस पर जो उचित उत्तर भगवान् श्रीकृष्ण ने दिया वह उन्हीं के योग्य था। कहा कि—

> सम्प्रीति-भोज्यान्यन्नानि ह्यापद्भोज्यानि वा पुन.।
> न च सम्प्रीयसे राजन्! न चैवापद्गता वयम्॥

अर्थात् या तो प्रीति के कारण किसी के यहाँ भोजन किया जाता है, या फिर विपत्ति में—दुर्भिक्षादि संकट में। तुम हमसे प्रेम नहीं करते और हम पर कोई ऐसी आपत्ति भी नहीं आई है, ऐसी दशा में तुम्हारा भोजन कैसे स्वीकार करें?

इस प्रत्याख्यान से क्रुद्ध होकर दुर्योधन ने उन्हें घेर कर पकड़ना चाहा, पर भगवान् श्रीकृष्ण के अलौकिक तेज और दिव्य पराक्रम ने उसे परास्त कर दिया। वह अपनी धृष्टता पर लज्जित होकर रह गया।

हमारे लीडर लोग भगवान् के इस आचरण से शिक्षा ग्रहण करें तो उनका और लोक का कल्याण हो।

पाण्डव और कौरव दोनों ही श्रीकृष्ण के सम्बन्धी थे, दोनों ही उन्हे अपने पक्ष में लाने के लिए समान रूप से प्रयत्नशील थे। 'लोक-संग्रह' के तत्त्व से भी भगवान् अनभिज्ञ न थे, पर उन्होंने सर्व-प्रियता के मोह में पड़ कर धर्म को अधर्म नहीं बताया। निरपराध को अपराधी बता कर अपनी 'समदर्शिता' या उदारता का परिचय नहीं दिया। श्रीकृष्ण अपने प्राणों का मोह छोड़ कर दुर्योधन को समझाने गये और भयानक सङ्कट के भय से भी कर्त्तव्य-पराङ्मुख न हुए।

आर्य जाति के लीडर और शिक्षित युवक श्रीकृष्ण-चरित्र को अपना आदर्श मान कर यदि अपने चरित्र का निर्माण करें तो वे देश और जाति का उद्धार करने में समर्थ हो सकेंगे। परमात्मा ऐसा ही करे।

---

उनका भ्रमण बड़ा विस्तृत था, उत्तर में मान-सरोवर और दक्षिण में सेतुबंध रामेश्वर तक की इन्होंने यात्रा की थी। चित्रकूट की रम्य भूमि में उनकी वृत्ति अतिशय रमी थी, जैसा कि उनकी रचनाओं से स्पष्ट हो जाता है। काशी, प्रयाग और अयोध्या उनके स्थायी निवास-स्थान थे, जहाँ वे वर्षों रहते और ग्रंथ रचना करते थे। मथुरा-वृन्दावन आदि कृष्ण-तीर्थों की भी उन्होंने यात्रा की थी और यहीं कहीं उनकी "कृष्ण-गीतावली" लिखी गई थी। इसी भ्रमण में गोस्वामीजी ने पचीसों वर्ष लगा दिये थे, और बड़े-बड़े महात्माओं की संगति की थी। कहते हैं कि एक बार जब वे चित्रकूट में थे, तब संवत् १६१६ में सूरदास उनसे मिलने गये थे। कवि केशवदास और रहीम खानखाना से भी उनकी भेंट होने की बात प्रचलित है।

संवत् १६३१ में अपना प्रसिद्ध ग्रंथ 'राम-चरित-मानस' लिखने बैठे। उसे उन्होंने लगभग ढाई वर्ष में समाप्त किया। राम-चरित का कुछ अंश काशी में लिखा गया है, कुछ अन्यत्र भी। इस ग्रंथ की रचना से उनकी बड़ी ख्याति हुई। उस काल के प्रसिद्ध विद्वान् और संस्कृतज्ञ मधुसूदन सरस्वती ने उनकी बड़ी प्रशंसा की थी। स्मरण रखना चाहिए कि संस्कृत के विद्वान् उस समय भाषा कविता को हेय समझते थे। ऐसी अवस्था में उनकी प्रशंसा का महत्त्व और भी बढ़ जाता है। गोस्वामी तुलसीदास को उनके जीवन-काल में जो प्रसिद्धि

मिली, वह निरंतर बढ़ती ही गई और अब तो वह सर्वव्यापिनी हो रही है।

राम-चरित लिख चुकने के उपरांत गोस्वामीजी आत्मोद्धार की ओर प्रवृत्त हुए। अब तक उन्होंने राम के चरित्र का चित्रण कर लोक-धर्म की प्रतिष्ठा की ओर विशेष ध्यान दिया था। अब वे साधना के क्षेत्रों में आकर आत्म-निवेदन की ओर खिंचे। उनकी 'विनय-पत्रिका' इसी समय की रचना है। भक्त का दैन्य और आत्म-ग्लानि दिखा कर, प्रभु की क्षमता और क्षमता-शीलता का चित्र अपने हृदय-पटल पर अंकित कर तथा भक्त और प्रभु के अविच्छिन्न संबंध पर ज़ोर देकर गोस्वामीजी ने 'विनय-पत्रिका' को भक्तों का प्रिय ग्रंथ बना दिया। यद्यपि उनके उपास्य देव राम थे, तथापि 'पत्रिका' में गणेश और शिव आदि की वंदना कर एक ओर तो गोस्वामी जी ने लौकिक-पद्धति का अनुसरण किया है और दूसरी ओर अपने उदार हृदय का परिचय दिया है। उत्तर-भारत में कट्टर-पन की शृंखला को शिथिल कर धार्मिक उदारता का प्रचार करने वालों में गोस्वामीजी अग्रणी हैं। ऐसी जन-श्रुति है कि 'विनय-पत्रिका' की रचना गोस्वामीजी ने काशी के गोपाल-मंदिर में की थी।

गोस्वामीजी की मृत्यु काशी में संवत् १६८० में हुई थी। काशी में उस समय महामारी का प्रकोप था और तुलसीदास भी उससे आक्रांत हुए थे। प्लेग उन्हें हो गया था, पर कहा

छंदों मे कथा कही गई है, जो भाटों की परंपरा के अनुसार है। 'कवितावली' मे राजा राम की राज्यश्री का जो विशद वर्णन है, उसके अनुकूल कवित्त छंद का व्यवहार उचित ही हुआ है। 'विनय-पत्रिका' तथा 'गीतावली' आदि में व्रजभाषा के सगुणोपासक संत महात्माओं के गीतों की प्रणाली स्वीकृत की गई है। 'दोहावली', 'बरवै-रामायण' आदि में तुलसीदास जी ने छोटे छंदों में नीति आदि के उपदेश दिये हैं। अथवा अलंकारों की योजना के साथ फुटकर भाव-व्यंजना की है। सारांश यह कि गोस्वामीजी ने अनेक शैलियों में अपने ग्रंथों की रचना की है और आवश्यकतानुसार उनमें विविध छंदों का प्रयोग किया है। इस कार्य मे गोस्वामीजी की सफलता विस्मय-कारिणी है। हिंदी की जो व्यापक क्षमता और जो प्रचुर अभिव्यंजन-शक्ति गोस्वामीजी की रचनाओं मे देख पड़ती है वह अभूतपूर्व है। उनकी रचनाओं से हिंदी मे पूर्ण प्रौढ़ता की प्रतिष्ठा हुई।

तुलसीदास के महत्त्व का ठीक-ठीक अनुमान करने के लिए उनकी कृतियों की तीन प्रधान दृष्टियों से परीक्षा करनी पड़ेगी—भाषा की दृष्टि से, साहित्योत्कर्ष की दृष्टि से और संस्कृति के ग्रहण और व्यंजन की दृष्टि से। इन तीनों दृष्टियों से उन पर विचार करने का प्रयत्न ऊपर किया गया है, जिसके परिणाम-स्वरूप उदाहरणार्थ हम यह कह सकते हैं कि गोस्वामीजी को ब्रज और अवधी दोनों भाषाओं पर ए--

उनकी उन्नति हुई और किस प्रकार उनकी संकुलता बढ़ती गई। जैसे संसार की भूतात्मक अथवा जीवात्मक उत्पत्ति के संबंध में विकास-वाद के निश्चित नियम पूर्ण रूप से घटते हैं वैसे ही वे मनुष्य के सामाजिक जीवन के उन्नति-क्रम आदि को भी अपने अधीन रखते हैं। यदि हम सामाजिक जीवन के इतिहास पर ध्यान देते हैं तो हमें विदित होता है कि पहले मनुष्य असभ्य वा जंगली अवस्था में थे। वे झुंडों में घूमा करते थे और उनके जीवन का एक-मात्र उद्देश्य उदर की पूर्ति था, जिसका साधन वे जानवरों के शिकार से करते थे। क्रमशः शिकार में पकड़े हुए जानवरों की संख्या आवश्यकता से अधिक होने के कारण उनको बाँध रखना पड़ा। इसका लाभ उन्हें भूख लगने पर स्पष्ट विदित हो गया और यहीं से मानो उनके पशु-पालन-विधान का बीजारोपण हुआ। धीरे-धीरे वे पशु-पालन के लाभों को समझने लगे और उनके चारे आदि के आयोजन में प्रवृत्त हुए। साथ ही पशुओं को साथ लिये लिये घूमने में उन्हें कष्ट दिखलाई पड़ने लगे और वे एक नियत स्थान पर रह कर जीवन-निर्वाह का उपाय करने लगे। अब कृषि की ओर उनका ध्यान गया। कृषि-कर्म होने लगे, गाँव बसने लगे, पशुओं और भू-भागों पर अधिकार की चर्चा चल पड़ी। लोहारों और बढ़इयों की संस्थाएँ बन गईं। आपस में लेन-देन होने लगा। एक वस्तु देकर

बालक के अंग पुष्ट होते हैं, उसमें नई शक्ति आती जाती है, उसके मस्तिष्क का विकास होता जाता है, उसमें भावनाएँ उत्पन्न होती जाती हैं और समय पाकर वह उस शक्ति से संपन्न हो जाता है, जिससे वह अपनी ही सी सृष्टि की वृद्धि करता जाय। फिर एक ही प्रणाली से उत्पन्न अनेक प्राणियों की भिन्नता कैसी आश्चर्य-जनक है, कोई बलवान् है तो कोई विचारवान्, कोई न्यायशील है तो कोई अन्याचारी, कोई दयामय है तो कोई क्रूरातिक्रूर, कोई सदाचारी है तो कोई दुराचारी, कोई संसार की माया में लिप्त है तो कोई परलोकचिंता में रत। पर क्या इन विशेषताओं के बीच कोई सामान्य धर्म भी है या नहीं ? विचार करके देखिए। सब बातें विचित्र आश्चर्य-जनक और कौतूहल-वर्द्धक होने पर भी किसी शासक द्वारा निर्धारित नियमावली से बद्ध हैं। सब अपने-अपने नियमानुसार उत्पन्न होते, बढ़ते, पुष्ट होते और अंत में उस अवस्था को प्राप्त हो जाते हैं जिसे हम मृत्यु कहते हैं; पर यहीं उनकी समाप्ति नहीं है, यहीं उनका अंत नहीं है, वे सृष्टि के कार्य-साधन में निरंतर तत्पर हैं। मर कर भी वे सृष्टि-निर्माण में योग देते हैं। यों ही वे जीते मरते चले जाते हैं। इन्हीं सब बातों की जाँच विकास-वाद का विषय है। यह शास्त्र हम को इस बात की छानबीन में प्रवृत्त करता है और बतलाता है कि कैसे संसार की सब बातों की सूक्ष्मातिसूक्ष्म रूप में अभिव्यक्ति हुई, कैसे क्रम-क्रम से

दूसरी आवश्यक वस्तु प्राप्त करने का उद्योग हुआ और यहीं मानो व्यापार की नींव पड़ी। धीरे-धीरे इन गाँवों के अधिपति हुए जिन्हें अपने अधिकार को बढ़ाने, अपनी संपत्ति को वृद्धि देने तथा अपने बल को पुष्ट करने की लालसा उत्पन्न हुई। सारांश यह कि आवश्यकतानुसार उनके रहन-सहन, भाव-विचार सब में परिवर्तन हो चला। जो सामाजिक जीवन पहले था वह अब न रहा। अब उसका रूप ही बदल गया। अब नये विधान आ उपस्थित हुए। नई आवश्यकताओं ने नई चीज़ों के बनाने के उपाय निकाले, जब किसी चीज़ की आवश्यकता आ उपस्थित होती है तब मस्तिष्क को उस कठिनता को हल करने के लिए कष्ट देना पड़ता है। इस प्रकार सामाजिक जीवन में परिवर्तन के साथ ही साथ मस्तिष्क-शक्ति का विकास होने लगा। सामाजिक जीवन के परिवर्तन का दूसरा नाम असभ्यावस्था से सभ्यावस्था को प्राप्त होना है, अर्थात् ज्यों-ज्यों सामाजिक जीवन का विकास, विस्तार और उसकी संकुलता बढ़ती गई त्यों-त्यों सभ्यता देवी का साम्राज्य स्थापित होता गया। जहाँ पहले असभ्यता वा जंगलीपन ही में मनुष्य संतुष्ट रहते थे वहाँ उन्हें सभ्यता-पूर्वक रहना पसंद आने लगा। सभ्यावस्था सामाजिक जीवन में उस स्थिति का नाम है जब मनुष्य को अपने सुख और चैन के साथ-साथ दूसरे के स्वत्वों और अधिकारों का भी ज्ञान हो जाता है। आदर्श

विकास के लिए साहित्य का प्रयोजन होता है। मनुष्य के विचारों मे प्राकृतिक अवस्था का बहुत भारी प्रभाव पड़ता है। शीत-प्रधान देशों में अपने को जीवित रखने के लिए निरंतर परिश्रम करने की आवश्यकता रहती है। ऐसे देशों में रहने वाले मनुष्यों का सारा समय अपनी रक्षा के उपायों के सोचने और उन्हीं का अवलंबन करने में बीत जाता है। अतएव क्रम-क्रम से उन्हें सांसारिक बातों से अधिक ममता हो जाती है और वे अपने जीवन का उद्देश्य सांसारिक वैभव प्राप्त करना ही मानने लगते हैं।

जहाँ उसके प्रतिकूल अवस्था है वहाँ आलस्य का प्राबल्य होता है। जब प्रकृति ने खाने, पीने, पहनने, ओढ़ने का सब समान प्रस्तुत कर दिया तब फिर उसकी चिंता ही कहाँ रह जाती है। भारत-भूमि को प्रकृति देवी का प्रिय और प्रकांड क्रीड़ा-क्षेत्र समझना चाहिए। यहाँ सब ऋतुओं का आवागमन होता रहता है। जल की यहाँ प्रचुरता है। भूमि भी इतनी उर्वरा है कि सब खाद्य पदार्थ यहाँ उत्पन्न हो सकते हैं। फिर इनकी चिंता यहाँ के निवासी कैसे कर सकते हैं? इस अवस्था में या तो सांसारिक बातों से हट कर मन जीवात्मा की ओर लग जाता है अथवा विलास-प्रियता में फँस कर इंद्रियों का शिकार बन बैठता है। यही मुख्य कारण है कि यहाँ का साहित्य धार्मिक विचारों या शृंगार रस के काव्यों से भरा हुआ है। अस्तु, जो कुछ मैंने

अब तक निवेदन किया है उससे यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि मनुष्य की सामाजिक स्थिति के विकास में साहित्य का प्रधान योग रहता है।

यदि संसार के इतिहास की ओर हम ध्यान देते हैं तो हमें यह भली भाँति विदित होता है कि साहित्य ने मनुष्यों की सामाजिक स्थिति में कैसा परिवर्तन कर दिया है। पाश्चात्य देशों में एक समय धर्म संबंधी शक्ति पोप के हाथ में आ गई थी। माध्यमिक काल में इस शक्ति का बड़ा दुरुपयोग होने लगा। अतएव जब पुनरुत्थान ने वर्त्तमान काल का सूत्रपात किया और युरोपीय मस्तिष्क स्वतंत्रता-देवी की आराधना में रत हुआ तब पहला काम जो उसने किया वह धर्म के विरुद्ध विद्रोह खड़ा करना था। इसका परिणाम यह हुआ कि युरोपीय कार्य-क्षेत्र से धर्म का प्रभाव हटा और व्यक्ति-गत स्वातंत्र्य की लालसा बढ़ी। यह कौन नहीं जानता कि फ्रांस की राज्य-क्रांति का सूत्रपात रूसो और वालटेयर के लेखों ने किया और इटली के पुनरुत्थान का बीज मेज़िनी के लेखों ने बोया। भारतवर्ष में भी साहित्य का प्रभाव इसकी अवस्था पर कम नहीं पड़ा। यहाँ की प्राकृतिक अवस्था के कारण सांसारिक चिंता ने लोगों को अधिक न ग्रसा। उनका विशेष ध्यान धर्म की ओर रहा। जब-जब उसमें अव्यवस्था और अनीति की वृद्धि हुई, नये च ..., नई संस्थाओं की सृष्टि हुई, बौद्ध धर्म और

आर्य-समाज का प्राबल्य और प्रचार ऐसी ही स्थिति के बीच हुआ। इसलाम और हिंदू-धर्म जब परस्पर पड़ोसी हुए तब दोनों में से कूप-मंडूकता का भाव निकालने के लिए कबीर नानक आदि का प्रादुर्भाव हुआ। अतः यह स्पष्ट है कि मानव-जीवन की सामाजिक गति में साहित्य का स्थान बड़े गौरव का है।

अब यह प्रश्न उठता है कि जिस साहित्य के प्रभाव से संसार में इतने उलट फेर हुए हैं, जिसने युरोप के गौरव को बढ़ाया, जो मनुष्य समाज का हित-विधायक मित्र है, वह क्या हमें राष्ट्र निर्माण में सहायता नहीं दे सकता? क्या हमारे देश की उन्नति करने में हमारा पथ-प्रदर्शक नहीं हो सकता? हो अवश्य सकता है यदि हम लोग जीवन के व्यवहार में उसे अपने साथ-साथ लेते चलें, उसे पीछे न छूटने दें। यदि हमारे जीवन का प्रवाह दूसरी ओर हो तब तो हमारा उसका प्राकृतिक संयोग ही नहीं हो सकता।

अब तक जो यह हमारा सहायक नहीं हो सका है इसके दो मुख्य कारण हैं। एक तो इस [illegible] नहीं है और दूसरे इसका साहित्य [illegible] नहीं है। इन्हीं कारणों से इसके [illegible] नहीं हो सका है और यह [illegible] और [illegible] हुए हैं। परन्तु अब इन [illegible] के परिवर्तन हो चला है। इसके [illegible]

स्थिति की एकांतता को आधुनिक वैज्ञानिक आविष्कारों ने एक प्रकार से निर्मूल कर दिया है और प्राकृतिक वैभव का लाभालाभ बहुत कुछ तीव्र जीवन-संग्राम की सामर्थ्य पर निर्भर है।

यह जीवन-संग्राम दो भिन्न सभ्यताओं के संघर्षण से और भी तीव्र और दुःखमय प्रतीत होने लगा है। इस अवस्था के अनुकूल ही जब साहित्य उत्पन्न हो कर समाज के मस्तिष्क को प्रोत्साहित और प्रतिक्रियमाण करेगा तभी वास्तविक उन्नति के लक्षण देख पड़ेंगे और उसका कल्याणकारी फल देश को आधुनिक काल का गौरव प्रदान करेगा।

अब विचारणीय यह है कि वह साहित्य किस प्रकार का होना चाहिए जिससे कथित उद्देश्य की सिद्धि हो सके? मेरे विचार के अनुसार इस समय हमें विशेष कर ऐसे साहित्य की आवश्यकता है जो मनोवेगों का परिष्कार करने वाला, संजीवनी शक्ति का संचार करने वाला, चरित्र को सुंदर साँचे में ढालने वाला तथा बुद्धि को तीव्रता प्रदान करने वाला हो। साथ ही इस बात की भी आवश्यकता है कि यह साहित्य परिमार्जित, सरस और ओजस्विनी भाषा में तैयार किया जाय। इसको सब लोग स्वीकार करेंगे कि ऐसे साहित्य का हमारी हिंदी भाषा में अभी तक बड़ा अभाव

है पर शुभ लक्षण चारों ओर देखने में आ रहे हैं, और यह दृढ़ आशा होती है कि थोड़े ही दिनों में उसका उदय दिखाई पड़ेगा जिससे जन-समुदाय की आँखें खुलेंगी और भारतीय जीवन का प्रत्येक विभाग ज्ञान की ज्योति से जगमगा उठेगा।

उसे कुछ सरोकार नहीं। इसी से एक तो मनोवेग ही एक दूसरे को परिमित किया करते हैं, दूसरे विचार-शक्ति भी उन पर अंकुश रखती हैं। यदि क्रोध इतना उग्र हुआ कि हृदय में दुःख के कारण की अवरोध-शक्ति के रूप और परिमाण के निश्चय, दया, भय आदि और विकारों के संचार तथा उचित अनुचित के विचार के लिये जगह ही न रही तो बहुत हानि पहुँच जाती है। जैसे कोई सुने कि उसका शत्रु बीस आदमी लेकर उसे मारने आ रहा है और वह चट क्रोध से व्याकुल होकर बिना शत्रु की शक्ति का विचार वा भय किए उसे मारने के लिये अकेला दौड़े तो उसके मारे जाने में बहुत कम संदेह है। अतः कारण के यथार्थ निश्चय के उपरांत आवश्यक मात्रा में और उपयुक्त स्थिति में भी क्रोध वह काम दे सकता है जिसके लिये उसका विकास होता है।

कभी-कभी लोग अपने कुटुंबियों वा स्नेहियों से झगड़ कर उन्हें पीछे से दुःख पहुँचाने के लिये अपना सिर तक पटक देते हैं। यह सिर पटकना अपने को दुःख पहुँचाने के अभिप्राय से नहीं होता क्योंकि बिलकुल बेगानों के साथ कोई ऐसा नहीं करता। जब किसी को क्रोध में अपना ही सिर पटकते या अंग भंग करते देखे तब समझ लेना चाहिए कि उसका क्रोध ऐसे व्यक्ति के ऊपर है जिसे उसके सिर पटकने की परवा है अर्थात्

जिसे उसके सिर फूटने से यदि उस समय नहीं तो आगे चल कर दुःख पहुँचेगा।

क्रोध का वेग इतना प्रबल होता है कि कभी-कभी मनुष्य यह विचार नहीं करता कि जिसने दुःख पहुँचाया है उसमे दुःख पहुँचाने की इच्छा थी या नहीं। इसी से कभी तो वह अचानक पैर कुचल जाने पर किसी को मार बैठता है और कभी ठोकर खाकर कंकड़-पत्थर तोड़ने लगता है। चाणक्य ब्राह्मण अपना विवाह करने जाता था। मार्ग में उसके पैर में कुश चुभे। वह चट मट्ठा और कुदाली लेकर पहुँचा और कुशों को उखाड़-उखाड़ कर उनकी जड़ों मे मट्ठा देने लगा। मैंने देखा कि एक ब्राह्मण देवता चूल्हा फूँकते-फूँकते थक गए। जब आग नहीं जली तब उस पर कोप करके चूल्हे मे पानी डाल किनारे हो गए। इस प्रकार का क्रोध असंस्कृत है। यात्रियों ने बहुत से ऐसे जंगलियों का हाल लिखा है जो रास्ते मे पत्थर की ठोकर लगने पर बिना उसको चूर-चूर किए आगे नहीं बढ़ते। इस प्रकार का क्रोध अपने दूसरे भाइयों के स्थान को दबाए हुए है। अधिक अभ्यास के कारण यदि कोई मनोवेग अधिक प्रबल पड़ गया तो वह अंतःकरण मे अव्यवस्था उत्पन्न कर मनुष्य को फिर बचपन से मिलती-जुलती अवस्था मे ले जाकर पटक देता है।

जिससे एक बार दुःख पहुँचा, पर उसके दोहराए जाने की संभावना कुछ भी नहीं है उसको जो कष्ट पहुँचाया

जाता है वह प्रतिकार कहलाता है। एक दूसरे से अपरिचित दो आदमी रेल पर चले जाते हैं। इनमें से एक को आगे ही के स्टेशन पर उतरना है। स्टेशन तक पहुँचते-पहुँचते बात ही बात में एक ने दूसरे को एक तमाचा जड़ दिया और उतरने की तैयारी करने लगा। अब दूसरा मनुष्य भी यदि उतरते-उतरते उसको एक तमाचा लगा दे तो यह उसका प्रतिकार या बदला कहा जायगा क्योंकि उसे फिर उसी व्यक्ति से तमाचे खाने की संभावना का कुछ भी निश्चय नहीं था। जहाँ और दुःख पहुँचने की कुछ भी संभावना होगी वह शुद्ध प्रतिकार नहीं होगा। हमारा पड़ोसी कई दिनों से नित्य आकर हमें दो-चार टेढ़ी-सीधी सुना जाता है। यदि हम उसको एक दिन पकड़ कर पीट दें तो हमारा यह कर्म शुद्ध प्रतिकार नहीं कहलाएगा क्योंकि नित्य गाली सुनने के दुःख से बचने के परिणाम की ओर भी हमारी दृष्टि रही। इन दोनों अवस्थाओं को ध्यान-पूर्वक देखने से पता लगेगा कि दुःख से उद्विग्न होकर दुःख दाता को कष्ट पहुँचाने की प्रवृत्ति दोनों में है। पर एक में वह परिणाम आदि के विचार को बिलकुल छोड़े हुए है और दूसरे में कुछ लिए हुए। इनमें से पहले प्रकार का क्रोध निष्फल समझा जाता है। पर थोड़े धैर्य के साथ सोचने से जान पड़ेगा कि इस प्रकार के क्रोध से स्वार्थ-साधन तो नहीं होता पर परोक्ष-रूप में कुछ लोकहित-साधन अवश्य

हो जाता है। दुःख पहुँचानेवाले से हमें फिर दुःख पहुँचने का डर न सही पर समाज को तो है। इससे उसे उचित दंड दे देने से पहले तो उसकी शिक्षा वा भलाई हो जाती है, फिर समाज के और लोगों का भी बचाव हो जाता है। क्रोध-कर्त्ता की दृष्टि तो इन परिणामों की ओर नहीं रहती है पर सृष्टि-विधान में इस प्रकार के क्रोध की नियुक्ति इन्हीं परिणामों के लिये है।

क्रोध सब मनोविकारों से फुरतीला है, इसी से अवसर पड़ने पर यह और दूसरे मनोविकारों का भी साथ देकर उनकी सहायता करता है। कभी वह दया के साथ कूदता है, कभी घृणा के। एक क्रूर कुमार्गी किसी अनाथ अबला पर अत्याचार कर रहा है। हमारे हृदय में उस अनाथ अबला के प्रति दया उमड़ रही है। पर दया की पहुँच तो आर्त ही तक है। यदि वह स्त्री भूखी होती तो हम उसे कुछ रुपया-पैसा देकर अपने दया के वेग को शांत कर लेते। पर यहाँ तो उस दुःख का हेतु मूर्त्तिमान् तथा अपने विरुद्ध प्रयत्नों को ज्ञान-पूर्वक व्यर्थ करने की शक्ति रखनेवाला है। ऐसी अवस्था में क्रोध ही उस अन्याचारी के दमन के लिये उत्तेजित करता है जिसके बिना हमारी दया ही व्यर्थ जाती है। क्रोध अपनी इस सहायता के बदले में दया की वाहवाही को नहीं बँटाता। काम क्रोध करता है पर नाम दया का ही होता है। लोग यही कहते हैं "उसने दया करके बचा

लिया"; यह कोई नहीं कहता कि "क्रोध करके क्षमा किया" ऐसे अवसरों पर यदि क्रोध क्षमा का साथ न दे तो क्षमा अपने अनुकूल परिणाम उपस्थित ही नहीं कर सकती। एक अघोरी हमारे सामने मक्खियाँ मार-मार कर खा रहा है और हमें घिन लग रही है। हम उससे नम्रता-पूर्वक हटने के लिये कह रहे हैं और वह नहीं सुन रहा है। चट हमें क्रोध आ जाता है और हम उसे बलात् हटाने में प्रवृत्त हो जाते हैं॥

क्रोध के निरोध का उपदेश अर्थ-परायण और धर्म-परायण दोनों देते हैं। पर दोनों में जिसे अति से अधिक सावधान रहना चाहिए वही कुछ भी नहीं रहता। बाकी रुपया वसूल करने का ढंग बतानेवाला चाहे कड़े पड़ने की शिक्षा दे भी दे पर धज के साथ धर्म की ध्वजा लेकर चलनेवाला धोखे में भी क्रोध को पाप का बाप ही कहेगा। क्रोध रोकने का अभ्यास ठगों और स्वार्थियों को सिद्धों और साधकों से कम नहीं होता। जिससे कुछ स्वार्थ निकालना रहता है; जिसे बातों में फँसा कर ठगना रहता है उसकी कठोर से कठोर और अनुचित से अनुचित बातों पर न जाने कितने लोग ज़रा भी क्रोध नहीं करते। पर उनका यह अक्रोध न धर्म का लक्षण है न साधन।

वैर क्रोध का अचार या मुरब्बा है। जिससे हमें दुःख पहुँचा है उस पर हमने जो क्रोध किया वह यदि हमारे हृदय

में बहुत दिनों तक टिका रहा तो वह बैर कहलाता है। इस स्थायी रूप में टिक जाने के कारण क्रोध की क्षिप्रता और हड़बड़ी तो कम हो जाती है पर वह और धैर्य, विचार और युक्ति के साथ लक्ष्य को पीड़ित करने की प्रेरणा बराबर बहुत काल तक किया करता है। क्रोध अपना बचाव करते हुए शत्रु को पीड़ित करने की युक्ति आदि सोचने का समय नहीं देता पर बैर इसके लिये बहुत समय देता है। वास्तव में क्रोध और बैर में केवल काल-भेद है। दुःख पहुँचने के साथ ही दुःख-दाता को पीड़ित करने की प्रेरणा क्रोध और कुछ काल बीत जाने पर बैर है। किसी ने हमें गाली दी। यदि हमने उसी समय उसे मार दिया तो हमने क्रोध किया। मान लीजिए कि वह गाली देकर भाग गया और दो महीने बाद हमें कहीं मिला। अब यदि उससे बिना फिर गाली सुने हमने उसे मिलने के साथ ही मार दिया तो वह हमारा बैर निकालना हुआ। इस विवरण से स्पष्ट है कि बैर उन्हीं प्राणियों में होता है जिनमें धारणा अर्थात् भावों के सञ्चय की शक्ति होती है। पशु और बच्चे किसी से बैर नहीं मानते। वे क्रोध करते हैं और थोड़ी देर के बाद भूल जाते हैं। क्रोध का यह स्थायी रूप भी आपदाओं की पहिचान करा कर उनसे बहुत काल तक बचाए रखने के लिये दिया गया है।

भाई वा बहन को कोई मारने उठता है तब वे कुछ चंचल हो उठते हैं।

दुःख की श्रेणी में परिणाम के विचार से करुणा का उलटा क्रोध है। क्रोध जिसके प्रति उत्पन्न होता है उसकी हानि की चेष्टा की जाती है। करुणा जिसके प्रति उत्पन्न होती है उसकी भलाई का उद्योग किया जाता है। किसी पर प्रसन्न होकर भी लोग उसकी भलाई करते हैं। इस प्रकार पात्र की भलाई की उत्तेजना दुःख और आनंद दोनों की श्रेणियों में रखी गई है। आनंद की श्रेणी में ऐसा कोई शुद्ध मनोविकार नहीं है जो पात्र की हानि की उत्तेजना करे, पर दुःख की श्रेणी में ऐसा मनोविकार है जो पात्र की भलाई की उत्तेजना करता है। लोभ से, जिसे मैंने आनंद की श्रेणी में रखा है, चाहे कभी-कभी और व्यक्तियों वा वस्तुओं को हानि पहुँच जाय पर जिसे जिस व्यक्ति वा वस्तु का लोभ होगा उसकी हानि वह कभी नहीं करेगा। लोभी महमूद ने सोमनाथ को तोड़ा: पर भीतर से जो जवाहरात निकले उनको खूब सँभाल कर रखा। नूरजहाँ के रूप के लोभी जहाँगीर ने शेर अफ़गन को मरवाया पर नूरजहाँ को बड़े चैन से रखा।

कभी-कभी नम्रता, सज्जनता, धृष्टता, दीनता आदि मनुष्य की स्थायी वासनाएँ, जिन्हें गुण कहते हैं, तीव्र

* करुणा

होकर मनोवेगों का रूप धारण कर लेती हैं पर वे मनोवेगों में नहीं गिनी जातीं।

ऊपर कहा जा चुका है कि मनुष्य ज्योंही समाज में प्रवेश करता है, उसके दुःख और सुख का बहुत-सा अंश दूसरों की क्रिया वा अवस्था पर निर्भर हो जाता है और उसके मनोविकारों के प्रवाह तथा जीवन के विस्तार के लिये अधिक क्षेत्र हो जाता है। वह दूसरों के दुःख से दुखी और दूसरों के सुख से सुखी होने लगता है। अब देखना यह है कि क्या दूसरों के दुःख से दुखी होने का नियम जितना व्यापक है उतना ही दूसरों के सुख से सुखी होने का भी। मैं समझता हूँ, नहीं। हम अज्ञात-कुल-शील मनुष्य के दुःख को देख कर भी दुखी होते हैं। किसी दुखी मनुष्य को सामने देख हम अपना दुखी होना तब तक के लिये बंद नहीं रखते जब तक कि यह न मालूम हो जाय कि वह कौन है, कहाँ रहता है और कैसा है। यह और बात है कि यह जान कर कि जिसे पीड़ा पहुँच रही है उसने कोई भारी अपराध वा अत्याचार किया है, हमारी दया दूर वा कम हो जाय। ऐसे अवसर पर हमारे ध्यान के सामने वह अपराध वा अत्याचार आ जाता है और उस अपराधी वा अत्याचारी का वर्तमान क्लेश हमारे क्रोध की तुष्टि का साधक हो जाता है। सारांश यह कि करुणा की प्राप्ति के लिये पात्र में दुःख के अतिरिक्त और किसी विशेषता की अपेक्षा नहीं। पर आनंदित

न दुःख का अनुभव अपनी
गी में माना जाता है पर
नभाव्य दुःख का ध्यान वा
। बातों से बचते हैं जिनसे
शील वा साधारण सद्वृत्ति
बोलचाल की भाषा में तो
नलता वा मुरौवत ही का भाव
। आँखों में शील नहीं है.' 'शील
का दुःख दूर करना और दूसरों
नों बातों का निर्वाह करनेवाला
हो सकता है पर दुःशीलता वा
नुष्य झूठ बोल सकता है पर ऐसा
ई काम बिगड़े या जी दुखे। यदि
त न मानेगा तो इसलिये कि वह
उसके अनुकूल चलने में असमर्थ
अकारण जी दुखे। मेरे विचार
ना. 'बड़ों का कहना मानना'
न वा सद्भाव के अंतर्गत नहीं।
अनर्थ हो जाते हैं इसी से
यह नियम कर दिया गया
ी न जाय। पर मनोरंजन.
के बहाने संसार में बहुत

और कार्य-विभाग की पूर्णता के उद्देश्य से इस प्रकार परिमित की गई है।

मनुष्य की प्रकृति में शील और सात्त्विकता का आदि-संस्थापक यही मनोविकार है। मनुष्य की सज्जनता या दुर्जनता अन्य प्राणियों के साथ उसके संबंध या संसर्ग द्वारा ही व्यक्त होती है। यदि कोई मनुष्य जन्म से ही किसी निर्जन स्थान में अपना निर्वाह करे तो उसका कोई कर्म सज्जनता या दुर्जनता की कोटि में न आएगा। उसके सब कर्म निर्लिप्त होंगे। संसार में प्रत्येक प्राणी के जीवन का उद्देश्य दुःख की निवृत्ति और सुख की प्राप्ति है। अतः सब के उद्देश्यों को एक साथ जोड़ने से संसार का उद्देश्य सुख का स्थापन और दुःख का निराकरण या बचाव हुआ। अतः जिन कर्मों से संसार के इस उद्देश्य का साधन हो वे उत्तम हैं। प्रत्येक प्राणी के लिये उससे भिन्न प्राणी संसार है। जिन कर्मों से दूसरे के वास्तविक सुख का साधन और दुःख की निवृत्ति हो वे शुभ और सात्त्विक हैं तथा जिस अंतःकरण-वृत्ति से इन कर्मों में प्रवृत्ति हो वह सात्त्विक है। कृपा या प्रसन्नता से भी दूसरों के सुख की योजना की जाती है। पर एक तो कृपा या प्रसन्नता में आत्म-भाव छिपा रहता है और उसकी प्रेरणा से पहुँचाया हुआ सुख एक प्रकार का प्रतिकार है। दूसरी बात यह है कि नवीन सुख की योजना की अपेक्षा प्राप्त दुःख की निवृत्ति की आवश्यकता अत्यंत अधिक है।

दूसरे के उपस्थित दुःख से उत्पन्न दुःख का अनुभव अपनी तीव्रता के कारण मनोवेगों की श्रेणी में माना जाता है पर अपने आचरण द्वारा दूसरे के संभाव्य दुःख का ध्यान वा अनुमान, जिसके द्वारा हम ऐसी बातों से बचते हैं जिनसे अकारण दूसरे को दुःख पहुँचे, शील वा साधारण सद्वृत्ति के अंतर्गत समझा जाता है। बोलचाल की भाषा में तो "शील" शब्द से चित्त की कोमलता वा मुरौवत ही का भाव समझा जाता है जैसे 'उनकी आँखों में शील नहीं है,' 'शील तोड़ना अच्छा नहीं'। दूसरों का दुःख दूर करना और दूसरों को दुःख न पहुँचाना इन दोनों बातों का निर्वाह करनेवाला नियम न पालने का दोषी हो सकता है पर दुःशीलता वा दुर्भाव का नहीं। ऐसा मनुष्य झूठ बोल सकता है पर ऐसा नहीं जिससे किसी का कोई काम बिगड़े या जी दुखे। यदि वह कभी बड़ों की कोई बात न मानेगा तो इसलिये कि वह उसे ठीक नहीं जँचती, वह उसके अनुकूल चलने में असमर्थ है, इसलिये नहीं कि बड़ों का अकारण जी दुखे। मेरे विचार के अनुसार 'सदा सत्य बोलना', 'बड़ों का कहना मानना' आदि नियम के अंतर्गत हैं, शील वा सद्भाव के अंतर्गत नहीं। झूठ बोलने से बहुधा बड़े-बड़े अनर्थ हो जाते हैं इसी से उसका अभ्यास रोकने के लिये यह नियम कर दिया गया कि किसी अवस्था में झूठ बोला ही न जाय। पर मनोरंजन, खुशामद और शिष्टाचार आदि के बहाने संसार में बहुत-सा

झूठ बोला जाता है जिस पर कोई समाज कुपित नहीं होता। किसी-किसी अवस्था में तो धर्म-ग्रंथों में झूठ बोलने की इजाज़त तक दे दी गई है, विशेषतः जब इस नियम-भंग द्वारा अंतःकरण की किसी उच्च और उदार वृत्ति का साधन होता हो। यदि किसी के झूठ बोलने से कोई निरपराध और निःसहाय व्यक्ति अनुचित दंड से बच जाय तो ऐसा झूठ बोलना बुरा नहीं बतलाया गया है क्योंकि नियम शील या सद्वृत्ति का साधक है, समकक्ष नहीं। मनोवेग-वर्जित सदाचार केवल दंभ है। मनुष्य के अंतःकरण में सात्त्विकता की ज्योति जगानेवाली यही करुणा है। इसी से जैन और बौद्ध धर्म में इसको बड़ी प्रधानता दी गई है और गोस्वामी तुलसीदासजी ने भी कहा है—

पर-उपकार सरिस न भलाई।
पर-पीड़ा सम नहिं अधमाई॥

यह बात स्थिर और निर्विवाद है कि श्रद्धा का विषय किसी न किसी रूप में सात्त्विक-शीलता ही है। अतः करुणा और सात्त्विकता का संबंध इस बात से और भी प्रमाणित होता है कि किसी पुरुष को दूसरे पर करुणा करते देख तीसरे को करुणा करनेवाले पर श्रद्धा उत्पन्न होती है। किसी प्राणी में और किसी मनोवेग को देख श्रद्धा नहीं उत्पन्न होती। किसी को क्रोध, भय, ईर्ष्या, घृणा, आनंद आदि करते देख लोग उस पर श्रद्धा नहीं कर बैठते। यह दिखलाया

पर दया करने और उसके दुःख की निवृत्ति का सुख प्राप्त करने की फुरसत नहीं। इस प्रकार मनुष्य हृदय को दबा कर केवल क्रूर आवश्यकता और कृत्रिम नियमों के अनुसार ही चलने पर विवश और कठपुतली-सा जड़ होता जाता है—उसकी भावुकता का नाश होता जाता है। पाखंडी लोग मनोवेगों का सच्चा निर्वाह न देख, हताश हो मुँह बना बना कर, कहने लगे हैं—"करुणा छोड़ो, प्रेम छोड़ो, क्रोध छोड़ो, आनंद छोड़ो, बस हाथ-पैर हिलाओ, काम करो।"

यह ठीक है कि मनोवेग उत्पन्न होना और बात है और मनोवेग के अनुसार क्रिया करना और बात, पर अनुसारी परिणाम के निरंतर अभाव से मनोवेगों का अभ्यास भी घटने लगता है। यदि कोई मनुष्य आवश्यकतावश कोई निष्ठुर कार्य अपने ऊपर ले ले तो पहले दो-चार बार उसे दया उत्पन्न होगी पर जब बार बार दया का कोई अनुसारी परिणाम वह उपस्थित न कर सकेगा तब धीरे धीरे उसकी दया का अभ्यास कम होने लगेगा।

बहुत से ऐसे अवसर आ पड़ते हैं जिनमें करुणा आदि मनोवेगों के अनुसार काम नहीं किया जा सकता पर ऐसे अवसरों की संख्या का बहुत बढ़ना ठीक नहीं है। जीवन में मनोवेग के अनुसारी परिणामों का विरोध प्रायः तीन वस्तुओं से होता है—(१) आवश्यकता, (२) नियम और (३) न्याय। हमारा कोई नौकर बहुत बुड्ढा और कार्य करने में अशक्त

मनोवेगों के विषय होकर प्रत्यक्ष विषय से उत्पन्न मनोवेग को परिवर्धित या धीमा करते हैं। इससे यह स्पष्ट है कि मनोवेग या प्रवृत्ति को मंद करनेवाली, स्मृति, अनुमान या बुद्धि आदि कोई दूसरी अंतःकरण-वृत्ति नहीं है, मन की वेगात्मिका क्रिया या अवस्था ही है।

मनुष्य की सजीवता मनोवेग या प्रवृत्ति ही में है। नीतिज्ञों और धार्मिकों का मनोवेगों को दूर करने का उपदेश घोर पाखंड है। इस विषय में कवियों का प्रयत्न ही सच्चा है, जो मनोविकारों पर सान ही नहीं चढ़ाते बल्कि उन्हें परिमार्जित करते हुए सृष्टि के पदार्थों के साथ उनके उपयुक्त संबंध निर्वाह पर जोर देते हैं। यदि मनोवेग न हों तो स्मृति, अनुमान, बुद्धि आदि के रहते भी मनुष्य बिलकुल जड़ है। प्रचलित सभ्यता और जीवन की कठिनता से मनुष्य अपने इन मनोवेगों को मारने और अशक्त करने पर विवश होता जाता है, इनका पूर्ण और सच्चा निर्वाह उसके लिए कठिन होता जाता है और इस प्रकार उसके जीवन का स्वाद निकलता जाता है। वन, नदी, पर्वत आदि को देख आनंदित होने के लिए अब उसके हृदय में उतनी जगह नहीं। दुराचार पर उसे क्रोध या घृणा होती है पर उसे शिष्टाचार के अनुसार उसे दुराचारी की भी मुँह पर प्रशंसा करनी पड़ती है। जीवन-निर्वाह की कठिनता से स्वार्थ [illegible]

पर दया करने और उसके दुःख की निवृत्ति का सुख प्राप्त करने की फुरसत नहीं। इस प्रकार मनुष्य हृदय को दबा कर केवल क्रूर आवश्यकता और कृत्रिम नियमों के अनुसार ही चलने पर विवश और कठपुतली-सा जड़ होता जाता है—उसकी भावुकता का नाश होता जाता है। पाखंडी लोग मनोवेगों का सच्चा निर्वाह न देख, हताश हो मुँह बना बना कर, कहने लगे हैं—"करुणा छोड़ो, प्रेम छोड़ो, क्रोध छोड़ो, आनंद छोड़ो, बस हाथ-पैर हिलाओ, काम करो।"

यह ठीक है कि मनोवेग उत्पन्न होना और बात है और मनोवेग के अनुसार क्रिया करना और बात, पर अनुसारी परिणाम के निरंतर अभाव से मनोवेगों का अभ्यास भी घटने लगता है। यदि कोई मनुष्य आवश्यकतावश कोई निष्ठुर कार्य अपने ऊपर ले ले तो पहले दो-चार बार उसे दया उत्पन्न होगी पर जब बार बार दया का कोई अनुसारी परिणाम वह उपस्थित न कर सकेगा तब धीरे धीरे उसकी दया का अभ्यास कम होने लगेगा।

बहुत से ऐसे अवसर आ पड़ते हैं जिनमें करुणा आदि मनोवेगों के अनुसार काम नहीं किया जा सकता पर ऐसे अवसरों की संख्या का बहुत बढ़ना ठीक नहीं है। जीवन में मनोवेग के अनुसारी परिणामों का विरोध प्रायः तीन वस्तुओं से होता है—(१) आवश्यकता, (२) नियम और (३) न्याय। हमारा कोई नौकर बहुत बुड्ढा और कार्य करने में अशक्त

२

# राष्ट्रभाषा हिन्दी का भविष्य

( श्री गणेशशंकर विद्यार्थी )

राजनीतिक पराधीनता पराधीन देश की भाषा पर अत्यन्त विषम प्रहार करती है। विजयी लोगों की विजय-गति विजितों के जीवन के प्रत्येक विभाग पर अपनी श्रेष्ठता की छाप लगाने का सतत प्रयत्न करती है। स्वाभाविक ढङ्ग से विजितों की भाषा पर उनका सब से पहले वार होता है। भाषा जातीय जीवन और उसकी संस्कृति की सर्व-प्रधान रक्षिका है, वह उसके शील का दर्पण है, वह उसके विकास का वैभव है। भाषा जीती, और सब जीत लिया। फिर कुछ भी जीतने के लिए शेष नहीं रह जाता। विजितों का अस्तित्व मिट चलता है। विजितों के मुंह से निकली हुई विजयी जनों की भाषा उनकी दासता की सबसे बड़ी निशानी है। पराई भाषा चरित्र की दृढ़ता का अपहरण कर लेती है, मौलिकता का विनाश कर देती है, और नक़ल करने का

स्वभाव बना कर के उत्कृष्ट गुणों और प्रतिभा से नमस्कार करा देती है। इसीलिए जो देश दुर्भाग्य से पराधीन हो जाते है, वे उस समय तक, जब तक कि वे अपना सब कुछ नहीं खो देते, अपनी भाषा की रक्षा के लिये सदा लोहा लेते रहना अपना कर्तव्य समझते हैं। अनेक यूरोपीय देशों के इतिहास भाषा-संग्राम की घटनाओं से भरे पड़े हैं। प्राचीन रोम-साम्राज्य से लेकर अब तक के रूस, जर्मन, इटैलियन, आस्ट्रियन, फ्रेंच और ब्रिटिश सभी साम्राज्यों ने अपने अधीन देशों की भाषा पर अपनी विजय-वैजयन्ती फहराई। भाषा-विजय का यह काम सहज में नहीं हो गया। भाषा-समर-स्थली के एक एक इञ्च स्थान के लिए बड़ी बड़ी लड़ाइयाँ हुईं। देश की स्वाधीनता के लिए मर मिटने वाले अनेक वीर-पुंगवों के समयों में इस विचार का स्थान सदा ऊँचा रहा है कि देश की भौगोलिक सीमा की अपेक्षा मातृ-भाषा की सीमा की रक्षा की अधिक आवश्यकता है। वे अनुभव करते थे कि भाषा बची रहेगी तो देश का अस्तित्व और उसकी आत्मा बची रहेगी, अन्यथा, फिर कहीं उसका कुछ भी पता न लगेगा।

भाषा-सम्बन्धी सब से आधुनिक लड़ाई आयरलैंड को लड़नी पड़ी थी। पराधीनता ने गैलिक भाषा का सर्वथा नाश कर दिया था। दुर्दशा यहाँ तक हुई कि इने-गिने मनुष्यों को छोड़ कर किसी को भी गैलिक का ज्ञान न रहा था

उनके वाक्यों की रचना और उनका व्याकरण, सभी अंग्रेज़ी के ढंग का प्रतिबिम्ब है। हमारे सुशिक्षितों ही में ऐसे लोग मिल सकते हैं, जो आपस में, यहाँ तक कि पिता-पुत्र और और पति-पत्नी तक, अकारण, हिन्दी में पत्र-व्यवहार करने की अपेक्षा अंग्रेज़ी में उसे करना अधिक अच्छा मानते हैं। यदि आप उनका ध्यान मातृ-भाषा की ओर आकर्षित करें, तो बहुधा यह उत्तर सुनने को मिले कि हिन्दी में अभी शब्दों और मुहावरों का उतना सुन्दर भण्डार नहीं है। हिन्दी की इसी दरिद्रता की दुहाई देकर, उच्च शिक्षा में अंग्रेज़ी का समावेश भी अनिवार्य सिद्ध किया जाता है। किन्तु इस दरिद्रता का दोष जितना हमारे सुशिक्षितों पर है, उतना दूसरों पर नहीं। वे अपनी आवश्यकता को विदेशी भाषा से पूरी कर लिया करते हैं। वे विदेशी भाषा बोलना सुगम समझते हैं। यदि हिन्दी पर कृपा भी करते हैं, तो बहुधा देखने में यह आता है कि उनकी बातों में अंग्रेज़ी शब्दों की भरमार होती है, और कभी कभी तो उनके वाक्यों की हिन्दी का परिचय केवल उनकी हिन्दी-क्रियाओं ही से लगता है। यदि हमारे सुशिक्षित इस प्रकार भाषा की अनावश्यक और अपावन वर्ण-संकरता न करें, अपने भावों को उसमें व्यक्त करना आवश्यक समझें, तो कुछ ही समय में, हमारी भाषा की उपरि-कथित दरिद्रता दूर हो जाय,

और हिन्दी भाषा-भाषियों की शिक्षा और ज्ञान का माप-दण्ड भी ऊँचा हो जाय।

संक्षेप में जो लोग हिन्दी को मातृ-भाषा मानते हैं, उनके सामने स्पष्ट ढंग से यह बात सदा रहनी चाहिए कि हिन्दी की जो इधर उन्नति हुई, वह उसकी आगामी बाढ़ के लिए कदापि ऐसी नहीं है कि हम समझ लें कि अब गाड़ी चलती जायगी, वह रुकेगी नहीं, अब हमें चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं है। हिन्दी की स्वाभाविक गति के लिए, तो अनेक बाधाओं के हटाने की आवश्यकता है, किन्तु उन सब के दूर होने में, तो, अभी बहुत समय लगेगा, इस बीच में कम से कम हम अवहेलना की बाधा को उपस्थित न होने दें और अचेत न हो जाँय। साहित्यिक ढंग से, मातृ-भाषा के प्रचार और पुष्टि के लिए जहाँ और जिस प्रकार जो कुछ हो सके, उसका करना हम सब के लिये नितान्त आवश्यक है।

हिन्दी भाषा-भाषियों के उद्योग से हिन्दी को राष्ट्रभाषा का पद प्राप्त नहीं हुआ। जैसी परिस्थिति थी, उसको देखते हुए, बाबू हरिश्चन्द्र और उनके समकालीन हिन्दी विद्वान् तो कभी इस बात को व्यावहारिक बात भी नहीं मान सकते थे कि देश के अन्य भाषा-भाषी लगभग सभी समुदाय हिन्दी को इतना गौरवान्वित स्थान देने के लिये तैयार हो जायँगे। किन्तु सार्वदेशिक आवश्यकतायें बढ़ती गईं, और देश भर के लिए काम करने वालों के सामने प्रकट और अप्रकट दोनों

प्रतिनिधि उसका अधिकांश कार्य हिन्दी में करते हैं। राष्ट्र भाषा के रूप में हिन्दी का स्थान निर्विवाद-रूपेण सुरक्षित है। उर्दू वालों को पहले चाहे जो आपत्ति रही हो, किन्तु अब वे भी इसे मानने लगे हैं कि उर्दू हिन्दी ही का फ़ारसी-मिश्रित रूप है, और कई मुसलमान नेता तक हिन्दी को राष्ट्र-भाषा के नाम से पुकारना आवश्यक और गौरव की बात समझते हैं। इस द्रुत गति से, बहुत ही थोड़े समय में हिन्दी का इस स्थान को प्राप्त कर लेना देश में नये जीवन के उदय का विशेष चिह्न है।

राष्ट्र-भाषा का काम अभी तक केवल भारत ही में हुआ है, वृहत्तर भारत अभी तक उससे कोरा है। लाखों भारतवासी विदेशों में पड़े हुए हैं, वे अपनी वेश-भूषा और भाषा भूलते जाते हैं। अभी तक वे इस देश के हैं, और देश के नाम पर विदेशों में टूटे-फूटे रूप में हिन्दी को अपनाते हैं। किन्तु धीरे-धीरे भारतीय संस्कृति का अधिकार उन पर से कम होता जाता है, और संभव है कि कुछ समय पश्चात् वे नाम-मात्र ही के लिए भारतीय रह जायँ। उनको अपने बनाये रखने, और हिन्दी का सन्देश संसार के अनेक स्थलों में पहुँचाने का यही सब से सुगम उपाय है कि उन तक राष्ट्र-भाषा हिन्दी का सन्देश पहुँचाया जाय। इस महा-यज्ञ में सब की और सब प्रकार की शक्तियों का संयोजित होना आवश्यक है। कुछ कर सकने योग्य कोई भी भारतीय ऐसा न बचे, जो

अपनी शक्ति भर भारतवर्ष की राष्ट्र-भाषा की भीतरी और बाहरी वृद्धि के काम में हाथ बटाने के लिए आगे न बढ़े।

मनुष्य के भाग्य का नक्षत्र उसे अपने जीवन के लक्ष्य की ओर प्रेरित किया करता है। मनुष्य के समूह, जातियों और राष्ट्रों के रूप धारण करके दैवी बल की प्रेरणा से अपने हिस्से के विश्व-वृत्त की पूर्ति करते हैं। भाषा और उसके साहित्य के जन्म और विकास की रेखायें भी किसी विशेष ध्येय से शून्य नहीं हुआ करतीं। हिन्दी भाषा और हिन्दी साहित्य का भविष्यत् भी बहुत बड़ा है। उसके गर्भ में निहित भवितव्यतायें इस देश और उसकी भाषा द्वारा संसार भर के रंग-मञ्च पर एक विशेष अभिनय करानेवाली हैं। मुझे तो ऐसा भासित होता है कि संसार की कोई भी भाषा मनुष्य जाति को उतना ऊँचा उठाने, मनुष्य को यथार्थ मे मनुष्य बनाने और संसार को सुसभ्य और सद्भावनाओं से युक्त बनाने में उतनी सफल नहीं हुई जितनी कि आगे चल कर हिन्दी भाषा होने वाली है। हिन्दी को अपने पूर्व-संचित पुण्य का बल है। संसार के बहुत बड़े विशाल खण्ड मे जिस समय सर्वथा अन्धकार था, लोग अज्ञान और अधर्म मे डूबे हुए थे, विश्व-बन्धुत्व और लोक-कल्याण का भाव भी उनके मन मे उदय नहीं हुआ था, उस समय इस देश से सुदूर देश-देशान्तरों मे फैल कर बौद्ध भिक्षुओं ने बड़े-बड़े देशों से लेकर अनेकानेक उपत्यकाओं, पठारों और तत्कालीन

पहुँच से बाहर गिरि-गुफाओं और समुद्र-तटों तक जिस प्रकार धर्म और अहिंसा का संदेश पहुँचाया था उसी प्रकार अदूर भविष्यत् में उन पुनीत संदेश-वाहकों की संतति संस्कृत और पाली की अग्रजा हिन्दी द्वारा भारतवर्ष और उसकी संस्कृति के गौरव का संदेश एशिया महाखण्ड के प्रत्येक रंग-मञ्च पर सुनायेगी। मुझे तो वह दिन दूर नहीं दिखाई देता जब हिन्दी साहित्य अपने सौष्ठव के कारण जगत्-साहित्य में अपना विशेष स्थान प्राप्त करेगा और हिन्दी, भारतवर्ष ऐसे विशाल देश की राष्ट्र-भाषा की हैसियत से न केवल एशिया महाद्वीप के राष्ट्रों की पंचायत में, किन्तु संसार भर के देशों की पंचायत में एक साधारण भाषा के समान न केवल बोली भर जायगी, किन्तु अपने बल से, संसार की बड़ी-बड़ी समस्याओं पर भरपूर प्रभाव डालेगी, और उसके कारण अनेक अन्तर्राष्ट्रीय प्रश्न बिगड़ा और बना करेंगे। संसार की अनेक भाषाओं के इतिहास, धमनियों में बहने वाले ठंडे रक्त को उष्ण कर ... उन मार्मिक घटनाओं से भरे पड़े हैं, जो उनके ... के लि[illegible] घटित हुई। फ्रांस [illegible]

होने पर भी [illegible]

छोड़ने को [illegible]

[illegible] ।

करना [illegible]

मनुष्यों के बनाये हुए इस क़ानून का मातृ-भाषा के भक्तों ने सदा उल्लंघन किया। इटली आस्ट्रिया के छीने हुए भू-प्रदेशों के लोगों के गले के नीचे ज़बर्दस्ती अपनी भाषा उतारना चाहता था, किन्तु वह अपनी समस्त शक्ति से भी मातृ भाषा के प्रेमियों को न दबा सका। आस्ट्रिया ने हंगरी को पद-दलित कर के उसकी भाषा का भी नाश करना चाहा, किन्तु आस्ट्रिया-निर्मित राज-सभा में बैठ कर हंगरी वालों ने अपनी भाषा के अतिरिक्त दूसरी भाषा में बोलने से इन्कार कर दिया था। दक्षिण अफ्रीका के जेनरल बोथा ने केवल इस बात के सिद्ध करने के लिये कि न उनका देश विजित हुआ और न उनकी आत्मा ही, बहुत अच्छी अंग्रेज़ी जानते हुए भी, बादशाह जार्ज से साक्षात् होने पर अपनी मातृ-भाषा डच में बोलना ही आवश्यक समझा और एक दो-भाषिया उनके तथा बादशाह के बीच में काम करता था।

यद्यपि हिन्दी के अस्तित्व पर अब इस प्रकार के खुले प्रहार नहीं होते, किन्तु ढँके मुँदे प्रहारों की कमी भी नहीं है, जो उस पर और इस प्रकार, देश की सुसंस्कृति पर विजय प्राप्त करना चाहते हैं। साहस के साथ और उस अगाध विश्वास के साथ जो हमें हिन्दी भाषा और उसके साहित्य के परमोज्ज्वल भविष्यत् पर है हमें इस प्रकार के प्रहारों का सामना करना चाहिए, और जितने बल और क्रिया-शीलता के साथ हम ऐसा करेंगे, जितनी द्रुत-गति के साथ हम अपनी

भाषा की त्रुटियों को पूरा करेंगे और उसे ३२ करोड़ व्यक्तियों की राष्ट्र-भाषा के समान बलशाली और गौरव-युक्त बनावेंगे, उतना ही शीघ्र हमारे साहित्य-सूर्य की रश्मियाँ दूर-दूर तक समस्त देशों में पड़ कर भारतीय संस्कृति, ज्ञान और कला का संदेश पहुँचावेंगी, उतने ही शीघ्र हमारी भाषा में दिये गये भाषण संसार की विविध रंगस्थलियों में गुंजरित होने लगेंगे और उनसे मनुष्य जाति-मात्र की गति-मति पर प्रभाव पड़ता हुआ दिखाई देगा, और उतने ही शीघ्र एक दिन और उदय होगा और वह होगा तब, जब इस देश के प्रतिनिधि उसी प्रकार, जिस प्रकार आयरलैंड के प्रतिनिधियों ने इंगलैंड से अन्तिम सन्धि करते और स्वाधीनता प्राप्त करते समय, अपनी विस्मृत भाषा गैलिक में सन्धि-पत्र पर हस्ताक्षर किये थे, भारतीय स्वाधीनता के किसी स्वाधीनता-पत्र पर हिन्दी भाषा में और नागरी अक्षरों में अपने हस्ताक्षर करते हुए दिखाई देंगे।

---

# कहानी

[ मुंशी प्रेमचंद ]

एक आलोचक ने लिखा है कि इतिहास में सब-कुछ यथार्थ होते हुए भी वह असत्य है, और कथा-साहित्य में सब-कुछ काल्पनिक होते हुए भी वह सत्य है।

इस कथन का आशय इसके सिवा और क्या हो सकता है कि इतिहास आदि से अन्त तक हत्या, संग्राम और धोखे का ही प्रदर्शन है, जो असुन्दर है इसलिए असत्य है। लोभ की क्रूर से क्रूर, अहंकार की नीच से नीच, ईर्ष्या की अधम से अधम घटनाएँ आपको वहाँ मिलेंगी, और आप सोचने लगेंगे, 'मनुष्य इतना अमानुष है! थोड़े से स्वार्थ के लिये भाई भाई की हत्या कर डालता है, बेटा बाप की हत्या कर डालता है और राजा असंख्य प्रजाओं की हत्या कर डालता है!' उसे पढ़ कर मन में ग्लानि होती है आनन्द नहीं, और जो वस्तु आनन्द नहीं प्रदान कर सकती वह सुन्दर नहीं हो

सकती, और जो सुन्दर नहीं हो सकती वह सत्य भी नहीं हो सकती। जहाँ आनन्द है वहीं सत्य है। साहित्य काल्पनिक वस्तु है पर उसका प्रधान गुण है आनन्द प्रदान करना, और, इसलिए वह सत्य है।

मनुष्य ने जगत् में जो कुछ सत्य और सुन्दर पाया है और पा रहा है उसी को साहित्य कहते हैं, और कहानी भी साहित्य का एक भाग है।

मनुष्य-जाति के लिए मनुष्य ही सब से विकट पहेली है। वह खुद अपनी समझ में नहीं आता। किसी न किसी रूप में वह अपनी ही आलोचना किया करता है,—अपने ही मनोरहस्य खोला करता है। मानव-संस्कृति का विकास ही इसलिए हुआ है कि मनुष्य अपने को समझे। अध्यात्म और दर्शन की भाँति साहित्य भी इसी सत्य की खोज में लगा हुआ है,—अन्तर इतना ही है कि वह इस उद्योग में रस का मिश्रण करके उसे आनन्द-प्रद बना देता है, इसीलिए अध्यात्म और दर्शन केवल ज्ञानियों के लिए हैं, साहित्य मनुष्य-मात्र के लिए।

जैसा हम ऊपर कह चुके हैं, कहानी या आख्यायिका साहित्य का एक प्रधान अंग है। आज से नहीं, आदि काल से ही। हाँ, आज-कल की आख्यायिका और प्राचीन काल की आख्यायिका में, समय की गति और रुचि के परिवर्तन से, बहुत कुछ अन्तर हो गया है। प्राचीन आख्यायिका

कुतूहल-प्रधान होती थी या अध्यात्म-विषयक। उपनिषद् और महाभारत में आध्यात्मिक रहस्यों को समझाने के लिए आख्यायिकाओं का आश्रय लिया गया है। बौद्ध जातक भी आख्यायिका के सिवा और क्या हैं? बाइबिल मे भी दृष्टान्तों और आख्यायिकों के द्वारा ही धर्म के तत्त्व समझाये गये हैं।—सत्य इस रूप में आकर साकार हो जाता है और तभी जनता उसे समझती है और उसका व्यवहार करती है।

वर्तमान आख्यायिका मनोविज्ञानिक विश्लेषण और जीवन के यथार्थ और स्वाभाविक चित्रण को अपना ध्येय समझती है। उसमें कल्पना की मात्रा कम, अनुभूतियों की मात्रा अधिक होती है, इतना ही नहीं बल्कि अनुभूतियाँ ही रचनाशील भावना से अनुरञ्जित होकर कहानी बन जाती हैं।

मगर यह समझना भूल होगी कि कहानी जीवन का यथार्थ चित्र है। यथार्थ-जीवन का चित्र तो मनुष्य स्वयं हो सकता है; मगर कहानी के पात्रों के सुख-दुःख से हम जितना प्रभावित होते हैं उतना यथार्थ जीवन से नहीं होते,—जब तक वह निजत्व की परिधि में न आ जाय। कहानियों में पात्रों से हमें एक ही दो मिनट के परिचय में निजत्व हो जाता है और हम उनके साथ हँसने और रोने लगते हैं। उनका हर्ष और विषाद हमारा अपना हर्ष और विषाद हो जाता है, इतना ही नहीं, बल्कि कहानी पढ़ कर वह लोग भी रोते या हँसते देखे जाते हैं जिन —

साधारणतः सुख-दुःख का कोई असर नहीं पड़ता। जिनकी आँखें श्मशान में या क़ब्रिस्तान में भी सजल नहीं होतीं वे लोग भी उपन्यास के मर्म-स्पर्शी स्थलों पर पहुँच कर रोने लगते हैं।

शायद, इसका यह कारण भी हो कि स्थूल प्राणी सूक्ष्म मन के उतने समीप नहीं पहुँच सकते जितने कि कथा के सूक्ष्म चरित्र के। कथा के चरित्रों और मन के बीच में जड़ता का वह पर्दा नहीं होता जो एक मनुष्य के हृदय को दूसरे मनुष्य के हृदय से दूर रखता है। और अगर हम यथार्थ को हूबहू खींच कर रख दें, तो उसमें कला कहाँ है? कला केवल यथार्थ की नकल का नाम नहीं है।

कला दीखती तो यथार्थ है, पर यथार्थ होती नहीं। उसकी खूबी यही है कि वह यथार्थ न होते हुए भी यथार्थ मालूम हो। उसका माप-दण्ड भी जीवन के माप-दण्ड से अलग है। जीवन में बहुधा हमारा अन्त उस समय हो जाता है जब यह वाञ्छनीय नहीं होता। जीवन किसी का दायी नहीं है; उसके सुख-दुःख, हानि-लाभ, जीवन-मरण में कोई क्रम,—कोई सम्बन्ध, नहीं ज्ञात होता,—कम से कम मनुष्य के लिए वह अज्ञेय है। लेकिन कथा-साहित्य मनुष्य का रचा हुआ जगत् है और परिमित होने के कारण सम्पूर्णतः हमारे सामने आ जाता है, और जहाँ वह हमारी मानवी न्याय-बुद्धि या अनुभूति का अतिक्रमण करता हुआ पाया जाता है, हम

उसे दण्ड देने के लिए तैयार हो जाते हैं। कथा में अगर किसी को सुख प्राप्त होता है तो इसका कारण बताना होगा, दुःख भी मिलता है तो उसका कारण बताना होगा। यहाँ कोई चरित्र मर नहीं सकता जब तक कि मानव-न्याय-बुद्धि उसकी मौत न माँगे। स्रष्टा को जनता की अदालत में अपनी हर एक कृति के लिए जवाब देना पड़ेगा। कला का रहस्य भ्रान्ति है, पर वह भ्रान्ति जिस पर यथार्थ का आवरण पड़ा हो।

हमें यह स्वीकार कर लेने में संकोच न होना चाहिए कि उपन्यासों ही की तरह आख्यायिका की कला भी हमने पच्छिम से ली है,—कम से कम इसका आज का विकसित रूप तो पच्छिम का है ही। अनेक कारणों से जीवन की अन्य धाराओं की तरह ही साहित्य में भी हमारी प्रगति रुक गई और हमने प्राचीन से जौ-भर इधर-उधर हटना भी निषिद्ध समझ लिया। साहित्य के लिए प्राचीनों ने जो मर्यादाएँ बाँध दी थीं उनका उल्लंघन करना वर्जित था, अतएव, काव्य, नाटक, कथा,—किसी में भी हम आगे क़दम न बढ़ा सके। कोई वस्तु बहुत सुन्दर होने पर भी अरुचिकर हो जाती है जब तक उसमें कुछ नवीनता न लाई जाय। एक ही तरह के नाटक, एक ही तरह के काव्य, पढ़ते पढ़ते आदमी ऊब जाता है और वह कोई नई चीज़ चाहता है,—चाहे वह उतनी सुन्दर और उत्कृष्ट न हो। हमारे यहाँ

या तो यह इच्छा उठी ही नहीं, या हमने उसे इतना कुचला कि वह जड़ीभूत हो गई। पश्चिम प्रगति करता रहा,—उसे नवीनता की भूख थी मर्यादाओं की बेड़ियों से चिढ़। जीवन के हर एक विभाग में उसकी इस अस्थिरता की, असन्तोष की बेड़ियों से मुक्त हो जाने की, छाप लगी हुई है। साहित्य में भी उसने क्रांति मचा दी।

शेक्सपियर के नाटक अनुपम हैं; पर आज उन नाटकों का जनता के जीवन से कोई सम्बन्ध नहीं। आज के नाटक का उद्देश कुछ और है, आदर्श कुछ और है, विषय कुछ और है, शैली कुछ और है। कथा-साहित्य में भी विकास हुआ और उसके विषय में चाहे उतना बड़ा परिवर्तन न हुआ हो पर शैली तो बिलकुल ही बदल गई। अलिफ-लैला उस वक्त का आदर्श था,—उसमें बहुरूपता थी, वैचित्र्य था, कुतूहल था, रोमान्स था;—पर उसमें जीवन की समस्यायें न थीं, मनोविज्ञान के रहस्य न थे, अनुभूतियों की इतनी प्रचुरता न थी, जीवन अपने सत्य-रूप में इतना स्पष्ट न था। उसका रूपान्तर हुआ और उपन्यास का उदय हुआ जो कथा और नाटक के बीच की वस्तु है। पुराने दृष्टान्त भी रूपान्तरित होकर कहानी बन गये।

मगर सौ बरस पहले यूरोप भी इस कला से अनभिज्ञ था। बड़े-बड़े उच्चकोटि के दार्शनिक, ऐतिहासिक तथा सामाजिक उपन्यास लिखे जाते थे, लेकिन छोटी-छोटी

कहानियों की ओर किसी का ध्यान न जाता था। हाँ, परियों और भूतों की कहानियाँ लिखी जाती थीं; किन्तु इसी एक शताब्दी के अन्दर, या उससे भी कम में समझिए, छोटी कहानियों ने साहित्य के और सभी अंगों पर विजय प्राप्त कर ली है, और यह कहना ग़लत न होगा कि जैसे किसी ज़माने में काव्य ही साहित्यिक अभिव्यक्ति का व्यापक रूप था, वैसे ही आज कहानी है। और उसे यह गौरव प्राप्त हुआ है यूरोप के कितने ही महान् कलाकारों की प्रतिभा से, जिनमें बालज़क, मोपॉसॉ, चेख़ाफ़, टालस्टाय, मैक्सिम गोर्की आदि मुख्य हैं। हिन्दी में पच्चीस-तीस साल पहले तक कहानी का जन्म न हुआ था। परन्तु आज तो कोई ऐसी पत्रिका नहीं जिसमें दो-चार कहानियाँ न हों,—यहाँ तक कि कई पत्रिकाओं में केवल कहानियाँ ही दी जाती हैं।

कहानियों के इस प्राबल्य का मुख्य कारण आज-कल का जीवन-संग्राम और समयाभाव है। अब वह ज़माना नहीं रहा कि हम 'बोस्ताने-ख़याल' लेकर बैठ जायें और सारे दिन उसी की कुंजों में विचरते रहें। अब तो हम जीवन-संग्राम में इतने तन्मय हो गये हैं कि हमें मनोरञ्जन के लिए समय ही नहीं मिलता, अगर कुछ मनोरञ्जन स्वास्थ्य के लिए अनिवार्य न होता, और हम विक्षिप्त हुए बिना नित्य अट्ठारह घण्टे काम कर सकते तो शायद हम मनोरञ्जन का नाम भी न लेते। लेकिन प्रकृति ने हमें विवश कर दिया है;

हम चाहते हैं कि थोड़े से थोड़े समय में अधिक से अधिक मनोरञ्जन हो जाय,—इसीलिए, सिनेमा-गृहों की संख्या दिन दिन बढ़ती जाती है। जिस उपन्यास के पढ़ने में महीनों लगते, उसका आनन्द हम दो घण्टों में उठा लेते हैं। कहानी के लिए पन्द्रह-बीस मिनट ही काफ़ी हैं; अतएव हम कहानी ऐसी चाहते हैं कि वह थोड़े से थोड़े शब्दों में कही जाय, उसमें एक वाक्य, एक शब्द भी अनावश्यक न आने पावे; उसका पहला ही वाक्य मन को आकर्षित कर ले और अन्त तक उसे मुग्ध किये रहे, और उसमें कुछ चटपटापन हो, कुछ ताज़गी हो, कुछ विकास हो, और इसके साथ ही कुछ तत्त्व भी हो। तत्त्व-हीन कहानी से चाहे मनोरञ्जन भले हो जाय, मानसिक तृप्ति नहीं होती। यह सच है कि हम कहानियों में उपदेश नहीं चाहते, लेकिन विचारों को उत्तेजित करने के लिए, मन के सुन्दर भावों को जाग्रत् करने के लिए, कुछ न कुछ अवश्य चाहते हैं। वही कहानी सफल होती है जिसमें इन दोनों में से,—मनोरञ्जन और मानसिक तृप्ति में से, एक अवश्य उपलब्ध हो।

सब से उत्तम कहानी वह होती है, जिसका आधार किसी मनोविज्ञानिक सत्य पर हो। साधु पिता का अपने कुव्यसनी पुत्र की दशा से दुखी होना मनोविज्ञानिक सत्य है। इस आवेग में पिता के मनोवेगों को चित्रित करना और तदनुकूल उसके व्यवहारों को प्रदर्शित करना,

कहानी को आकर्षक बना सकता है। बुरा आदमी भी बिल-कुल बुरा नहीं होता, उसमें कहीं न कहीं देवता अवश्य छिपा होता है,—यह मनोविज्ञानिक सत्य है। उस देवता को खोल कर दिखा देना सफल आख्यायिका-लेखक का काम है। विपत्ति पर विपत्ति पड़ने से मनुष्य कितना दिलेर हो जाता है,—यहाँ तक कि वह बड़े से बड़े संकट का सामना करने के लिए ताल ठोंक तैयार हो जाता है, उसकी सारी दुर्वासना भाग जाती है, उसके हृदय के किसी गुप्त स्थान में छिपे हुए जौहर निकल आते हैं और हमें चकित कर देते हैं;—यह मनोविज्ञानिक सत्य है। एक ही घटना या दुर्घटना भिन्न-भिन्न प्रकृति के मनुष्यों को भिन्न-भिन्न रूप से प्रभावित करती है,—हम कहानी में इसको सफलता के साथ दिखा सकें, तो कहानी अवश्य आकर्षक होगी। किसी समस्या का समावेश कहानी को आकर्षक बनाने का सब से उत्तम साधन है। जीवन में ऐसी समस्याएँ नित्य ही उपस्थित होती रहती हैं और उनसे पैदा होने वाला द्वन्द्व आख्यायिका को चमका देता है। सत्यवादी पिता को मालूम होता है कि उसके पुत्र ने हत्या की है। वह उसे न्याय की वेदी पर बलिदान कर दे, या अपने जीवन सिद्धान्तों की हत्या कर डाले? कितना भीषण द्वन्द्व है! पश्चात्ताप ऐसे द्वन्द्वों का अखण्ड स्रोत है। एक भाई ने अपने दूसरे भाई की सम्पत्ति छल-कपट से अपहरण कर ली है, उसे भिक्षा माँगते देख कर क्या छली

ही नहीं रहा। उनका महत्त्व केवल पात्रों के मनोभावों को व्यक्त करने की दृष्टि से ही है,—उसी तरह, जैसे शालिग्राम स्वतन्त्र-रूप से केवल पत्थर का एक गोल टुकड़ा है, लेकिन उपासक की श्रद्धा से प्रतिष्ठित होकर देवता बन जाता है।—खुलासा यह कि कहानी का आधार अब घटना नहीं, अनुभूति है। आज लेखक केवल कोई रोचक दृश्य देख कर कहानी लिखने नहीं बैठ जाता। उसका उद्देश स्थूल सौन्दर्य नहीं है। वह तो कोई ऐसी प्रेरणा चाहता है जिसमें सौन्दर्य की झलक हो, और इसके द्वारा वह पाठक की सुन्दर भावनाओं को स्पर्श कर सके।

---

# स्वास्थ्य

[ बाबू रामचंद्र वर्मा ]

जब तक मनुष्य का स्वास्थ्य अच्छा न हो तब तक उसकी सारी संपत्ति प्रायः व्यर्थ-सी होती है। प्रत्येक मनुष्य को अपने स्वास्थ्य का अधिक ध्यान रहता है। अस्वस्थ मनुष्य का जीवन सदा दुःख-पूर्ण हुआ करता है। शरीर को स्वस्थ और सुखी रखने के लिये प्रत्येक अंग से सदा काम लेते रहना चाहिए। प्रकृति का यही नियम है और जो इसका पालन करता है वह सुखी रहता है। यदि हम बीमार हो जायँ तो समझ लेना चाहिए कि हमने किसी नियम का अतिक्रमण किया है। रोग मानों हमें प्रकृति के नियमों से परिमित कराता है और भविष्य में उनका पालन करने के लिये सचेत करता है। जो मनुष्य प्रकृति के नियमों का पालन नहीं करता वह अनेक प्रकार के दुःख भोगता है।

बड़े-बड़े नगरों में बहुत ही घनी बस्ती हुआ करती है।

स्वच्छ और खुले मकान का प्रबंध करना चाहिए। जो लोग मकान बनवाते हों उन्हें भी सदा इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि उनके सब कमरे खुले और हवादार हों। दोनों दशाओं में धन और स्थान उतना ही लगता है, पर थोड़ी बुद्धिमत्ता और दूरदर्शिता से यह अनेक प्रकार से लाभदायक बन सकता है। यदि घर सदा साफ-सुथरा रहे और गृह-स्वामिनी बुद्धिमती और मित-व्ययी हो तो उस गृहस्थी के स्वर्ग-तुल्य होने में कोई संदेह नहीं रह जाता।

स्वास्थ्य और स्वच्छता के लिये स्वच्छ जल और स्वच्छ वायु की बहुत बड़ी आवश्यकता होती है। जहाँ कोई चीज़ या जगह ज़रा गंदी हो तुरंत उसे साफ कर डालो। कुछ लोग सफ़ाई को बिलकुल अनावश्यक समझते हैं और प्रायः उससे बहुत हानि उठाते हैं। जिस स्थान पर किसी प्रकार की बीमारी हो उसे स्वच्छ और शुद्ध करते ही वहाँ से बीमारी दूर हो जाती है। बंगाल प्रांत को लीजिए। वहाँ मलेरिया की बहुत अधिकता इसी लिये है कि वहाँ स्वच्छता का बहुत अभाव है। वहाँ प्रत्येक गाँव में एक छोटा ताल होता है जिसमें सारे गाँव के मनुष्य और पशु नहाते हैं, वहीं सब घरों के बरतन माँजे और धोए जाते हैं और अधिकांश लोग उसी के किनारे पेशाब करते और स्त्रियाँ उसी में आबदस्त लेती हैं। यदि गाँव में कुओं की अधिकता न हुई तो उसी ताल का जल पीने के काम में भी आता है।

भला ऐसे स्थानों में रहनेवालों के स्वास्थ्य सुधारने की क्या आशा की जा सकती है ?

शारीरिक और नैतिक जीवन, तथा गार्हस्थ्य और सार्व-जनिक सुख में बहुत बड़ा संबंध है। गंदे स्थानों में रहने से मनुष्य के विचार विकसित नहीं हो सकते और उसमें मानसिक दुर्बलता आ जाती है। ऐसा मनुष्य उन्नति करने में असमर्थ हो जाता है और उसे अनेक प्रकार के कष्ट आ घेरते हैं। जो लोग गंदगी से बचने की चेष्टा नहीं करते उनकी आर्थिक हानियाँ भी कम नहीं होतीं। एक ओर तो वे काम न कर सकने के कारण धनोपार्जन में असमर्थ रहते हैं और दूसरी ओर उन्हें औषधि आदि में रुपए खर्च करने पड़ते हैं। यदि निर्धन लोग ऐसे संकट में पड़ जायँ तो उनकी और भी अधिक दुर्दशा होती है और उनकी सारी गृहस्थी चौपट हो जाती है।

प्रत्येक नगर की म्युनिसिपैलिटी स्वास्थ्य-सुधार के लिये नल, कल और सफाई आदि का प्रबंध करती है, पर जब तक प्रत्येक नगर-निवासी अपना-अपना घर स्वच्छ रखने का प्रबंध न करे तब तक म्युनिसिपैलिटी के उद्योगों का कोई अच्छा फल नहीं होता। स्वच्छता और स्वास्थ्य के लिये किसी प्रकार का राज-नियम उतना अधिक उपयोगी नहीं होता जितना कि व्यक्ति-गत उद्योग होता है। सरकार न तो हमारे मकानों को हवादार बना सकती है और न उन्हें स्वच्छ रखने

का कोई प्रबन्ध कर सकती है। यह काम अपने स्वार्थ का है। हमें अपना और अपने बाल-बच्चों का स्वास्थ्य ठीक रखने के लिये अपने घरों को साफ और हवादार रखना बहुत आवश्यक है।

किराए के मकानों में रहनेवालों को इस संबंध में बड़ी कठिनता होती है। जो लोग अपना मकान किराए पर चलाने के लिये बनवाते हैं वे प्रायः रहनेवालों के सुभीते का बहुत ही कम ध्यान रखते हैं। अभी हाल में बंबई में किराए के मकानों के संबंध में एक आदर्श कार्य हुआ है। वहाँ के स्वर्गीय सेठ भगवानदास नरोत्तमदास की धर्मपत्नी ने अपने पति के स्मारक में प्रायः डेढ़ लाख रुपए लगा कर एक मकान बनवाया है। उस मकान में ६६ कुटुंबों के रहने के लिये बहुत ही उत्तम और स्वास्थ्य-वर्द्धक स्थान बने हैं। यह मकान किराए पर चलाया जाता है। निर्धन मनुष्यों को, जो रहने के लिये अपना मकान नहीं बनवा सकते, इस प्रकार की सहायता की बहुत बड़ी आवश्यकता है। जो महाजन और धनवान थोड़े सूद पर अपना रुपया लगाने के साथ परोपकार भी किया चाहते हों, उन्हें ऐसे कार्यों में यथाशक्ति सहायता देकर पुण्य का भागी बनना चाहिए। इंगलैंड में इस प्रकार के बहुत से मकान बने हुए हैं जिनसे बहुत से लोगों को अच्छा लाभ पहुँचता है।

किराए के मकानों में रहनेवालों को परस्पर मिल कर भी

मकान की सफ़ाई आदि का प्रबंध करना चाहिए। दालान और चौक आदि नित्य धोए जाने चाहिएँ और स्वच्छ वायु आने के लिये दरवाजे और खिड़कियाँ प्रायः खुली रहनी चाहिएँ। स्वच्छता आदि का प्रबंध स्त्रियों के जिम्मे रहना चाहिए। सरकार या म्युनिसिपैलिटी इसका कोई उद्योग नहीं कर सकती, उसके लिये केवल व्यक्तिगत उद्योग की ही आवश्यकता है। मनुष्य के आचार व्यवहार आदि प्रायः वैसे ही हो जाते हैं जैसे मकानों में वे रहते हैं। जो मनुष्य गंदे, अँधेरे और बदबूदार मकानों में रहते हों वे प्रायः किसी प्रकार की उन्नति नहीं कर सकते। इसलिये जब तक रहने के मकानों का सुधार न हो तब तक समाज या जाति की उन्नति की आशा करना भी व्यर्थ ही है।

यदि मकान साफ़-सुथरे और हवादार भी हों, पर उनमें रहने वाले गंदे ही हों. तो भी किसी प्रकार का लाभ नहीं हो सकता। ऐसे मनुष्य मकानों को भी चौपट कर देते हैं। इसलिये लोगों को स्वच्छता-पूर्वक रहने के लाभ बतलाने की बहुत बड़ी आवश्यकता है। जो लोग कुछ पढ़े-लिखे और समझदार हों उन्हें स्वच्छता के लाभ समझाने में अधिक कठिनता नहीं होती। जो लोग कुछ दिनों तक सफाई से रहे. वे आप ही आप उसके लाभ समझ सकते हैं और भविष्य में स्वच्छता-पूर्वक रह सकते हैं। सभ्यता, शिक्षा और जाति या समाज की उन्नति के मुख्य लक्षण ये ही हैं।

धूल और गर्द से हमारी अनेक प्रकार की हानियाँ होती हैं। जिस चीज़ पर धूल और गर्द पड़ जाती है उसका सौंदर्य और मूल्य घट जाता है। सुंदरी स्त्रियाँ भी यदि मैली-कुचैली रहें तो उन्हें देख कर घृणा होने लगती है। बालकों के विचार और आचार, गंदे रहने से, खराब हो जाते हैं। जिस व्यक्ति का शरीर स्वच्छ नहीं रहता उसका हृदय शुद्ध होने की बहुत कम संभावना रहती है। आत्मा-रूपी देवता का मंदिर शरीर है; इसलिये मंदिर की शुद्धि और स्वच्छता भी देवता की योग्यता के अनुसार ही होनी चाहिए। गंदे मनुष्य अनेक प्रकार के नाश करने वाले मादक द्रव्यों के भी अभ्यस्त हो जाते हैं। शराबी, अफीमची, गँजेड़ी और चंडूबाज सभी गंदे होते हैं। जो लोग स्वच्छता से रहना सीख जायँगे, वे इस प्रकार के नष्ट नशों के बहुत ही कम अभ्यस्त होंगे। यह निश्चित सिद्धांत है कि स्वच्छता-पूर्वक रहनेवालों की आत्मा भी प्रायः स्वच्छ ही रहती है क्योंकि शरीर की ऊपरी दशा का बहुत बड़ा प्रभाव उसकी भीतरी अवस्था पर होता है।

स्वच्छता हिंदू धर्म का एक प्रधान अंग समझा जाता है। हमारे सभी धार्मिक बंधन हमें स्वच्छ रहने के लिये विवश करते हैं। हमारे यहाँ बिना स्नानादि किए पूजा और भोजन का विधान ही नहीं है। स्वच्छ रहना केवल पुण्य का कारण ही नहीं बल्कि स्वयं पुण्य है। शारीरिक और

आत्मिक स्वच्छता का बड़ा भारी संबंध है। हिंदू स्वयं नित्य स्नान करते हैं, अपने देवताओं को स्नान कराते हैं और मंदिरों को धोते और स्वच्छ रखते हैं। प्रातःकाल उठते ही हमें अपनी शारीरिक स्वच्छता के लिये अनेक कार्य करने पड़ते हैं। कुओं या तालाबों में नहाने की अपेक्षा नदियों में नहाना हमारे यहाँ अधिक पुण्य का कार्य समझा जाता है पर अपने धर्म और देश से घृणा करनेवाले कुछ नवीन शिक्षित ऐसे कार्यों को बिलकुल निरर्थक और अनावश्यक समझते हैं। ऐसे लोगों को इन बातों से शिक्षा प्राप्त करनी चाहिए।

जीव मात्र का सुख और कल्याण प्रायः ऐसी बातों पर ही निर्भर है जो आरंभ में देखने में बहुत ही तुच्छ मालूम होती हैं। जब तक ऐसी छोटी-छोटी बातों पर ध्यान न दिया जाय तब तक वास्तविक शारीरिक और आत्मिक सुख नहीं होता। जिन बालकों को नित्य स्नान कराया जाता, स्वच्छ भोजन कराया जाता और अच्छा कपड़ा पहनाया जाता है, उनका स्वास्थ्य भी अच्छा रहता है और उनकी बुद्धि भी प्रखर होती है। पर यदि इन सब बातों का ठीक प्रबंध न किया जाय तो परिणाम विपरीत और दुःखदायी होता है। यही बालक आगे चल कर बड़े और समझदार होते हैं। यदि आरंभ में ही उन्हें स्वच्छता का अभ्यास न डाला जाय तो भविष्य जीवन में उन्हें बहुत कम सुख मिलता है।

भोजन आदि बनाने, बालकों का पालन-पोषण करने और गृहस्थी के अन्य प्रबंध के लिये स्त्रियों को स्वच्छता की शिक्षा देना परम आवश्यक है। इसके सिवा उन्हें मित-व्यय भी सिखाना चाहिए। घर का अधिकांश व्यय उन्हीं के हाथ से होता है। जो स्त्रियाँ घर का सुप्रबंध नहीं कर सकतीं और न घर का हिसाब-किताब रख सकती हैं वे अपने कुटुंबियों को विपत्ति में डाल देती हैं। फूहड़ स्त्रियाँ घर को चौपट कर देती हैं। ऐसी स्त्रियों के हाथ के बने हुए भोजन स्वास्थ्य के लिये बहुत हानिकारक होते हैं। नासमझ स्त्रियाँ धनवानों के घर जाकर उन्हें सब प्रकार से दुखी कर देती हैं और समझदार स्त्रियाँ गरीबों के घर जाकर भी उन्हें सब तरह से सुखी बना देती हैं। तात्पर्य यह कि स्त्रियों के अशिक्षित और नासमझ होने के कारण पुरुषों को बहुत बड़ी-बड़ी हानियाँ उठानी पड़ती हैं। समाज या जाति का कल्याण और नाश बहुधा सुघर और फूहड़ स्त्रियों पर ही निर्भर होता है; इसलिये स्त्री-शिक्षा उन्नति का बहुत आवश्यक कारण ही नहीं बल्कि अंग भी है।

---

# मृत्यु

[ श्री चतुरसेन शास्त्री ]

तू आगई ? अभी से ? पहले से कुछ भी सूचना नहीं दी ? बिना बुलाये ? बिना ज़रूरत ? ना, तू लौट जा। अब मैं नहीं मरना चाहता।

एकदम सिर पर क्यों खड़ी है ? थोड़ा पीछे हट कर खड़ी हो। ठहर, ज़रा मुझे एक साँस और लेने दे। गला क्यों घोटे डालती है ?

वह तू ही थी ? एक बार आँख भर कर तो देख लेने दे, कैसा तेरा रूप है। तुझे तो कितनी बार पुकारा। मन ने कहा था, सब दुःखों की शान्ति तेरे पास है। तू सब कष्टों की दवा है। तब तू न आई थी। कष्ट मिट गये। अब क्या काम है ? ना। अब मैं तुझे नहीं चाहता। जा। वे दिन कट गये हैं। कितना लम्बा जीवन पथ काटा है। रास्ते भर चाहना ने उकसाया और आशा ने झांसे दिये, सिद्धि के नाम

है—चक्र है तो घूमा करे। किसी का क्या हर्ज है? पर यह दूसरों को घुमाता क्यों है? किस मतलब से? किस अधिकार से? यह तो खाली धींगा-मुश्ती है। बड़ा अन्याचार है। जब तक जीओ तब तक संसार-यात्रा, और जीने के योग्य न रहो तो परलोक-यात्रा! अभागा जीव केवल नित्य यात्री है, जिसे विश्राम का अधिकार ही नहीं। हाय! पहले यह मालूम होता तो यह महल, यह सुख-साज, ये ठाठ-बाट, यह मोह मैत्री-व्यवहार क्यों बढ़ाता? इस महल की सफ़ेदी के पीछे कितने दीनों का खून है? इस मेरे बिछौने के नीचे कितनों की रोटी का सत्त्व है? तब यह बात मालूम हो जाती, तो यह सब क्यों करता? तब तो सोचा था। एक दिन की बात तो है नहीं, जो दुःखम सुखम काट लें। मरने वाले मरें। घर आई लक्ष्मी को क्यों छोड़ें? हाय! अब उन्हें कहाँ पाऊं। उनका व्यर्थ शाप लिया। मृत्यु! थोड़ा ठहर! अब यह सम्पदा तो व्यर्थ ही है। ठहर! इसे उन्हें बाँट जाऊँ जिनके कण्ठ से निकाली गई है। पर उनमें कितने बचे हैं? कितने भूखे तड़प कर मरे, कितने जेल में मिट्टी काटते मरे। उनकी स्त्रियों ने जवानी में विधवा हो कर मुझे कोसा। यह माना कि उन पर मेरा ऋण था। पर यदि उन पर नहीं था—सच-मुच नहीं था, तो क्या मुझे उन्हें जेल में डलवा देना चाहिये था? पिटवाना चाहिये था? बर्तन कपड़े नीलाम करा लेने चाहिये थे? मुझे कमी क्या

के वाहर आता है; वह तो हीरा-तराश तुझे यह कृत्रिम रूप देता है। तेरा अपना प्रकाश कहाँ? तू तो समस्त वर्णों और प्रकाशों से शून्य है। तुझमें जैसी छाया और आभा पड़ी, वैसा ही वन जाता है—गंगा गए, गंगादास; जमुना गए, जमुनादास। यदि तू कहीं अँधेरे मे पड़ा रहे, तो लोगों की ठोकरें......।

हीरा—ज़रा ही में गरम हो गया। पूरी वात तो सुन लेता। सुन—मैं राज-राजेश्वरों के सिर पर वैठता हूँ। देवताओं का मुकुट सुशोभित करता हूँ; सुंदरियों का आभूषण वनता हूँ।

कोयला—हाँ, तू अपने कारण सम्राटों के सिर कटाता है। वड़े-वड़े राज्य तहस-नहस करा डालता है। मनुष्य को इस धोखे में डालता है कि तुझे देव-मुकुट में लगा-कर वह देवता को अपने वश कर सकता है। सुंदरियों की सहज रमणीयता पर भी अपनी कृत्रिमता से पानी फेरता है।

हीरा—मैं वड़े-वड़े राजकोषों मे कितनी रक्षा से रक्खा जाता हूँ! मेरे लिये पहरा-चौकी लगती है। तेरे-जैसा गलियों मे मारा-मारा नहीं फिरता। वड़ी-वड़ी निधियों से मेरा विनिमय होता है। मैं टके सेर नहीं विकता।

कोयला—क्या खूव! नित्य वंदी वन कर, सौ-सौ तालों में वद होकर, सोने की काँटेदार वेड़ियों में जकड़ा जाकर तू अपने को वड़ा समझे, तो समझ, तेरी वुद्धि की वलिहारी

के बाहर आता है: वह तो हीरा-तराश तुझे यह कृत्रिम रूप देता है। तेरा अपना प्रकाश कहाँ? तू तो समस्त वर्णों और प्रकाशों से शून्य है। तुझमें जैसी छाया और आभा पड़ी, वैसा ही बन जाता है—गंगा गए; गंगादास; जमुना गए, जमुनादास। यदि तू कहीं अँधेरे में पड़ा रहे, तो लोगों की ठोकरें......।

हीरा—ज़रा ही में गरम हो गया। पूरी बात तो सुन लेता। सुन—मैं राज-राजेश्वरों के सिर पर बैठता हूँ। देवताओं का मुकुट सुशोभित करता हूँ; सुंदरियों का आभूषण बनता हूँ।

कोयला—हाँ, तू अपने कारण सम्राटों के सिर कटाता है। बड़े-बड़े राज्य तहस-नहस करा डालता है। मनुष्य को इस धोखे में डालता है कि तुझे देव-मुकुट में लगा-कर वह देवता को अपने वश कर सकता है। सुंदरियों की सहज रमणीयता पर भी अपनी कृत्रिमता से पानी फेरता है।

हीरा—मैं बड़े-बड़े राजकोषों में कितनी रक्षा से रक्खा जाता हूँ! मेरे लिये पहरा-चौकी लगती है। तेरे-जैसा गलियों में मारा-मारा नहीं फिरता। बड़ी-बड़ी निधियों से मेरा विनिमय होता है। मैं टके सेर नहीं बिकता।

कोयला—क्या खूब! नित्य बंदी बन कर, सौ-सौ तालों में बंद होकर, सोने की काँटेदार बेड़ियों में जकड़ा जाकर तू अपने को बड़ा समझे, तो समझ, तेरी बुद्धि की बलिहारी

कोयला—हम तो दैत्य-वंश के हैं। क्या मैं तेरा बड़ा भाई नहीं ?

हीरा—बोलने में आप हैं। लेकिन शाबाश तू भी खूब, क्योंकि तू मेरा बड़ा बनता है।

कोयला—कौन दानव है और कौन देव, यह तो कर्म से निश्चित होगा। अपने मुँह से कहने की क्या आवश्यकता ? फिर देवता के अनुयायी ही असुरों की बुराई किया करते आए हैं। यदि देखा जाय, तो कितने असुर बड़े ही देवताओं से छले गए हैं।

हीरा—अच्छा, रहने दे अपने पास अपनी दार्शनिकता। आ, हम अपनी-अपनी करनी तो देख लें कि तू मेरा बड़ा भाई होने योग्य है या नहीं।

कोयला—बहुत ठीक, बहुत ठीक, तुझे ही अपनी बड़ाई का बड़ा घमंड है, तू ही अपने गुण कह चल।

हीरा—बनता तो है मेरा सहोदर, पर तुझे मेरे गुण तक विदित नहीं। न सही, पर क्या तेरी आँखें भी फूट गई हैं ? पहले तो मेरा रूप ही देख। यदि मुझमें और गुण न भी हों, तो इतना ही मेरी बड़ाई के लिये बहुत है—मैं जहाँ रहता हूँ सूरज की तरह चमकता हूँ, रंग-बिरंगी किरनें मुझमें से निकला करती हैं। देखनेवालों की आँखें खुल जाती हैं, तबियत हरी हो जाती है।

कोयला—क्या कहना है, तू तो एक कंकड़-जैसा सान

के बाहर आता है; वह तो हीरा-तराश तुझे यह कृत्रिम रूप देता है। तेरा अपना प्रकाश कहाँ? तू तो समस्त वर्णों और प्रकाशों से शून्य है। तुझमे जैसी छाया और आभा पड़ी, वैसा ही बन जाता है—गंगा गए, गंगादास; जमुना गए, जमुनादास। यदि तू कहीं अँधेरे में पड़ा रहे, तो लोगों की ठोकरें......।

हीरा—ज़रा ही में गरम हो गया। पूरी बात तो सुन लेता। सुन—मैं राज-राजेश्वरों के सिर पर बैठता हूँ। देवताओं का मुकुट सुशोभित करता हूँ; सुंदरियों का आभूषण बनता हूँ।

कोयला—हाँ, तू अपने कारण सम्राटों के सिर कटाता है। बड़े-बड़े राज्य तहस-नहस करा डालता है। मनुष्य को इस धोखे मे डालता है कि तुझे देव-मुकुट में लगा-कर वह देवता को अपने वश कर सकता है। सुंदरियों की सहज रमणीयता पर भी अपनी कृत्रिमता से पानी फेरता है।

हीरा—मै बड़े-बड़े राजकोषों मे कितनी रक्षा से रक्खा जाता हूँ! मेरे लिये पहरा-चौकी लगती है। तेरे-जैसा गलियों मे मारा-मारा नहीं फिरता। बड़ी-बड़ी निधियों से मेरा विनिमय होता है। मै टके सेर नहीं बिकता।

कोयला—क्या खूब! नित्य बंदी बन कर, सौ-सौ तालों में बंद होकर, सोने की काँटेदार बेड़ियों में जकड़ा जाकर तू अपने को बड़ा समझे, तो समझ. तेरी बुद्धि की बलिहारी

है! मैं तो स्वतंत्रता-पूर्वक दर दर घूमना ही जीवन की सफलता समझता हूँ। और, मेरा मूल्य, तुझे याद है या मैं बता दूँ, तेरा सच्चा मोल पंजाब-केसरी रणजीतसिंह ने आंका था—पाँच जूतियाँ। सुना तूने?

हीरा—रहने दे छोटे मुँह बड़ी बात। तू सदा जलनेवाला—दूसरे का उत्कर्ष कब देख सकता है?

कोयला—हाँ, मैं जलता हूँ, किंतु दूसरों के लिये-मैं अपने कारण दूसरों को तो नहीं जलाता। मैं जल कर गरीबों की भी ज़रूरतें पूरी करता हूँ—लोगों को विभूति देता हूँ।

हीरा—हाँ, मेरे ही विनिमय के लिये तू उन्हें धनिक करता है।

कोयला—क्योंकि मैं तो छोटा भाई समझ कर तेरी प्रतिष्ठा ही चाहता हूँ। पर तू तो ठहरा वज्र। तुझे इसका ध्यान कहाँ?

हीरा—रहने दे अपनी उदारता। मैं इन बातों में आकर अपना मार्ग नहीं छोड़ने का।

कोयला—मैं तुझे यही तो चेताना चाहता हूँ—तेरे दिन अब पूरे हो चले। संसार शीघ्र ही वह दिन देखनेवाला है जब तेरी पूछ न रह जायगी। वह शीघ्र ही कृत्रिम आभूषणों के बदले सच्चे आभूषण अपनावेगा। वह गरीबी अमीरी का ऊबड़-खाबड़ और टेढ़ा-मेढ़ा मार्ग छोड़ कर एक सरल, सम तल, सीधे मार्ग से चलनेवाला है।

हीरा—देखना है कि मनुष्यता कब सच्चे आभूषण अपनाती है। देखना है कि लोक-यात्रा का वह सीधा मार्ग कब बनता है। यदि वैसा सीधा मार्ग बन भी गया, तो उसके सीधेपन के कारण उसकी लंबाई देख कर ही मानवता हार बैठेगी। जो हो।

कोयला—नहीं, वह सीधापन उसका उत्साह दूना कर देगा, क्योंकि यात्रा का निर्दिष्ट स्थान उसे सामने ही देख पड़ने लगेगा।

हीरा—जब वह समय आएगा, तब देखा जायगा। मैं बीच ही में अपना पद-त्याग क्यों करूँ? क्या सहज ही मैंने उसे पाया है? तब तक के लिये तुझे इस बिना माँगी सलाह के लिये हृदय से धन्यवाद!

कोयला—अच्छा, मेरे अनुज! मैं जी से तुझे आशीर्वाद देता हूँ कि ईश्वर तुझे सुबुद्धि दे।

हीरा—आह! क्या दैव-गति ऐसी ही है कि मैं तेरा अनुज होऊँ, और तू—कोयला—मेरा अग्रज!

कोयला—हाँ, यह एक घटना है, जिसे हम मिटा नहीं सकते।

हीरा—तो क्या मनुष्य के पूर्वज बंदर नहीं?

कोयला—यह तो तेरे-जैसे पारदर्शी ही जानें, मैं अंध-हृदय इन गूढ़ विषयों को क्या समझ सकूँ!

हीरा—चाहे जैसे भी हो, तूने अपने हृदय का कालापन

तो स्वीकार किया। तेरी इस हार के आगे मैं अपना सिर झुकाता हूँ।

कोयला—और मैं भी अपने उसी आंतरिक अंधकार से, जो आलोक का कारण है, तुझे फिर असीसता हूँ कि ईश्वर तुझे सुबुद्धि दे।

---

# न्याय-मन्त्री

[ श्री सुदर्शन ]

यह घटना आज से पचीस सौ वर्ष पहले की है। एक दिन सन्ध्या समय जब आकाश में बादल लहरा रहे थे, बुद्ध-गया नामक गाँव में एक परदेशी शिशुपाल ब्राह्मण के द्वार पर आया और नम्रता से बोला—'क्या मुझे रात काटने के लिए स्थान मिल जायगा ?'

शिशुपाल अपने गाँव में सब से अधिक निर्धन थे। घोर दारिद्र्य ने भूखे बैल की नाईं उनकी हड्डियों का पञ्जर निकाल रक्खा था। उनकी आजीविका थोड़ी-सी भूमि पर चलती थी परन्तु फिर भी परदेशी को द्वार पर देख कर उनका मुख खिल गया, जैसे सूर्य के उदय होने पर कमल खिल उठता है। उन्होंने मुस्कराते हुए कहा—यह मेरा सौभाग्य है आइये पधारिये, अतिथि के चरणों से चौका पवित्र हो जायगा।

परदेशी और ब्राह्मण, दोनों अन्दर गये। भारतवर्ष में

अतिथि-सत्कार की रीति बहुत प्रचलित थी। शिशुपाल के पुत्र ने अतिथि का सत्कार किया। परदेशी मुग्ध हो गया। उसने ब्राह्मण से कहा—'आपका पुत्र बड़े काम का है, उसकी सेवा से मैं बहुत प्रसन्न हुआ हूँ।'

शिशुपाल ने इस प्रकार सिर उठाया, जैसे किसी ने सर्प को छेड़ दिया हो और नाक-भौं चढ़ा कर उत्तर दिया—'आप हमारे अतिथि हैं, अन्यथा ब्राह्मण ऐसे शब्द नहीं सुन सकते।'

परदेशी ने अपनी भूल पर लज्जित होकर कहा—'क्षमा कीजिये, मेरा यह अभिप्राय न था, परन्तु आज-कल वे ब्राह्मण कहाँ है, अब तो आँखें उनके लिए तरसती हैं।'

शिशुपाल ने उत्तर दिया—'ब्राह्मण तो अब भी हैं, कमी केवल क्षत्रियों की है।'

'मैं आपका अभिप्राय नहीं समझा।'

शिशुपाल ने एक लम्बी-चौड़ी वक्तृता आरम्भ कर दी जिसको सुन कर परदेशी चकित हो गया। उसकी बातें ऐसी युक्ति-युक्त और प्रभावशाली थीं कि परदेशी उन पर मुग्ध हो गया। इस छोटे-से गाँव मे ऐसा विद्वान्, ऐसा तत्त्व-दर्शी पण्डित हो सकता है, इसकी उसे कल्पना भी न थी। उसने शिशुपाल का युक्ति-युक्त तर्क और शासन-पद्धति का इतना विशाल ज्ञान देख कर कहा—'मुझे ख़याल न था कि गोबर में फूल खिला हुआ है। महाराज अशोक को पता लग जाय तो आपको किसी ऊँची पदवी पर नियुक्त कर दें।'

शिशुपाल के शुष्क होठों पर मुस्कराहट आ गई। जिसका अन्तःकरण कुढ़ रहा हो, जिसके नेत्र आँसू बरसा रहे हों, जिसका मस्तिष्क अपने आपे में न हो, उसके होठों पर हँसी ऐसी भयानक प्रतीत होती है, जैसे श्मशान में चाँदनी वरन् उससे भी अधिक। शिशुपाल की आँखें नीचे झुक गईं। उन्होंने थोड़ी देर बाद सिर उठाया और कहा—'आज-कल बड़ा अन्याय हो रहा है। जब देखता हूँ, मेरा रक्त उबलने लग जाता है।'

परदेशी ने पैतरा बदल कर उत्तर दिया—'शेर-बकरी एक घाट पानी पी रहे हैं।'

'रहने दो, मैं सब जानता हूँ।'

'दोष निकालना सुगम है, परन्तु कुछ करके दिखाना कठिन है।'

शिशुपाल ने अग्नि पर पड़े हुए पत्ते की नाईं झुलस कर उत्तर दिया—'अवसर मिले तो दिखा दूँ कि न्याय किसे कहते हैं।'

'तो आप अवसर चाहते हैं?'

'हाँ, अवसर चाहता हूँ।'

'फिर तो कोई अन्याय न होगा?'

'सर्वथा न होगा।'

'कोई अपराधी दण्ड से न बचेगा?'

'कदापि नहीं बचेगा।'

परदेशी ने शान्त भाव से कहा — 'यह काम कठिन है।'

'ब्राह्मण के लिये कोई कठिन नहीं। मैं स्वयं का उड़ा मजा कर दिखा दूँगा।'

परदेशी के मुख पर मुस्कराहट थी, नेत्रों में ज्योति। उसने हँस कर उत्तर दिया—'यदि मैं अशोक होता, तो आपकी इच्छा पूरी कर देता।'

सहसा ब्राह्मण के हृदय में एक सन्देह उठा, परन्तु दूसरे क्षण में वह दूर होगया, जिस तरह वायु के प्रबल झोंके अभ्र-खण्ड को उड़ा ले जाते हैं।

( २ )

दूसरे दिन महाराज अशोक के दरबार में शिशुपाल बुलाया गया। इस समाचार से गाँव-भर में आग-सी लग गई। यह वह समय था, जब महाराज अशोक का राज्य आरम्भ हुआ था, और दमन-नीति का प्रारम्भ था। उस समय महाराज ऐसे निर्दय और निष्ठुर थे कि ब्राह्मणों और स्त्रियों को भी फाँसी पर चढ़ा दिया करते थे। उनकी निष्ठुर दृष्टि से बड़े-बड़े वीरों के भी प्राण सूख जाते थे। लोगों ने समझ लिया कि शिशुपाल के लिए यह बुलावा मृत्यु का सन्देश है। उनको पूरा-पूरा विश्वास था कि अब शिशुपाल जीवित न लौटेंगे। परिणाम यह हुआ कि शिशुपाल के सम्बन्धियों पर दुःख का पहाड़ टूट पड़ा और वे फूट-फूट कर रोने लगे। लोगों ने धीरज बँधाना आरम्भ किया, परन्तु

शिशुपाल के माथे पर बल न था। वे कहते थे—जब मैंने कोई अपराध नहीं किया, राज्य के किसी क़ानून का प्रतिरोध नहीं किया, तब कोई मुझे क्यों फाँसी देने लगा? निस्सन्देह राजा ऐसा अन्यायी और अन्धा नहीं हो सकता कि निर्दोष ब्राह्मणों को दुःख देने लगे। दुःख और कष्टों की लहरों के मध्य में वे इस प्रकार मौन खड़े थे, जिस प्रकार समुद्र की शिला। उन्होंने पुत्र और स्त्री को समझाया और पाटलिपुत्र की ओर चले।

साँझ होगई थी जब शिशुपाल पाटलिपुत्र पहुँचे और जब राजमहल में पहुँचाये गये उस समय तक उनको किसी बात का भय न था, परन्तु राजमहल की चमक-दमक का उन पर भय छा गया, जिस प्रकार मनुष्य थोड़े जल में निर्भय रहता है, परन्तु गहराई में पहुँच कर घबरा जाता है। उनके हृदय में कई प्रकार के विचार उठने लगे। कभी सोचते—'किसी ने कोई शिकायत न कर दी हो। जो जी में आता है, बेधड़क होकर कह दिया करता हूँ, कहीं इसका फल न भुगतना पड़े, कई शत्रु हैं।' कभी सोचते—'वह परदेशी पता नहीं कौन था? हो सकता है, कोई गुप्तचर ही हो और यह आग उसी की लगाई हो। तब तो उसने सब कुछ कह दिया होगा। कैसी मूर्खता की जो एक अपरिचित से घुल-मिल कर बातें करता रहा, अब पछता रहा हूँ। कभी सोचते—'कदाचित् मेरी दरिद्रता की कहानी

यहाँ तक पहुँच गई हो, और महाराज ने मुझे कुछ देने को बुला भेजा हो, यह भी तो हो सकता है।' इस विचार से हृदय-कमल खिल जाता, परन्तु फिर दूसरे विचार से मुर्झा जाता। इतने में प्रतिहारी ने कहा—'महाराज आ रहे हैं।'

शिशुपाल का कलेजा धड़कने लगा। उनको ऐसा प्रतीत हुआ मानो प्राण होठों तक आगये हैं। राजा का कितना प्रताप होता है, इसका पहली बार अनुभव हुआ। दृष्टि द्वार की ओर जम गई। महाराज अशोक राजकीय ठाट से कमरे में आये और मुस्कराते हुए बोले—'ब्राह्मण देवता! मुझे तो आपने पहचान ही लिया होगा?'

शिशुपाल घबरा कर खड़े हो गये। इस समय उनका रोम-रोम काँप रहा था। ये वही थे।

( ३ )

हाँ, ये वही थे। शिशुपाल काँप कर रह गये। कौन जानता था कि शीत-काल की रात को एक ब्राह्मण के यहाँ आश्रय लेने वाला परदेशी भारत का सम्राट हो सकता है। शिशुपाल ने तुरन्त ही अपने हृदय को स्थिर कर लिया और कहा—'मुझे पता न था कि आप ही महाराज हैं, अन्यथा उतनी स्वतन्त्रता से बात-चीत न करता।'

महाराज अशोक बोले—'हूँ!'

'परन्तु मैंने कोई बात बढ़ा कर नहीं कही थी?'

'हूँ!'

'मैं प्रमाण दे सकता हूँ ?'

महाराज ने कहा—'मैं नहीं चाहता।'

'तो मुझे क्या आज्ञा होती है ?'

'मैं आपकी परीक्षा करना चाहता हूँ।'

शिशुपाल के हृदय में सहसा एक विचार उठा, क्या वह सच हो जायगा ?

महाराज ने कहा—'आपने कहा था कि यदि मुझे अवसर दिया जाय तो मैं न्याय का डङ्का बजा दूँगा। मैं आपकी इस विषय में परीक्षा करना चाहता हूँ। आप तैयार हैं ?'

शिशुपाल ने हंस की तरह गर्दन ऊँची की और कहा—'हाँ, यदि महाराज की यही इच्छा है, तो मैं तैयार हूँ।'

'कल प्रातःकाल से तुम न्याय-मन्त्री नियत किये जाते हो। सारे नगर पर तुम्हारा अधिकार होगा।'

'बहुत अच्छा।'

'पाटलिपुत्र की पुलिस का प्रत्येक अधिकारी तुम्हारे अधीन होगा और शान्ति रखने का उत्तरदायित्व केवल तुम्हीं पर होगा।'

'बहुत अच्छा !'

'यदि कोई घटना हो गई, अथवा कोई हत्या हो गई, तो इसका उत्तरदायित्व भी तुम पर होगा।'

'बहुत अच्छा !'

महाराज थोड़ी देर चुप रहे और फिर हाथ से अँगूठी

उतार कर बोले- यह राजमुद्रा है, तुम कल प्रातःकाल की पहली किरण के साथ न्याय मन्त्री समझे जाओगे। मैं देखूँगा, तुम अपने आपको किस प्रकार सफल शासक सिद्ध कर सकते हो।

( ४ )

एक मास व्यतीत होगया। न्याय-मन्त्री के न्याय और सुप्रबन्ध की चारों ओर धूम मच गई। शिशुपाल ने नगर पर जादू डाल दिया है, ऐसा प्रतीत होता था। उन्होंने चोर डाकुओं को इस प्रकार वश में कर लिया था जिस प्रकार सर्प को बीन बजा कर सँपेरा वश में कर लेता है। उन दिनों यह अवस्था थी कि लोग दरवाज़े तक खुले छोड़ जाते थे; किन्तु किसी की हानि नहीं होती थी। शिशुपाल का न्याय अन्धा और बहरा था, जो न सूरत देखता था न सिफारिश सुनता। वह केवल दण्ड देना जानता था और दण्ड भी शिक्षा-प्रद। नगर की दशा में आकाश-पाताल का अन्तर पड़ गया।

रात्रि का समय था। आकाश में तारे खेलते थे। एक अमीर ने एक विशाल भवन के द्वार पर खटखटाया। झरोखे से किसी स्त्री ने सिर निकाल कर पूछा—'कौन है?'

'मैं हूँ, दरवाज़ा खोल दो।'

'परन्तु वे यहाँ नहीं है।'

'परवाह नहीं, तुम दरवाज़ा खोल दो।

स्त्री ने कुछ सोच कर उत्तर दिया—'मैं नहीं खोलूँगी; तुम इस समय जाओ।'

अमीर ने क्रोध से कहा—'दरवाज़ा खोल दो, नहीं तो मैं तोड़ डालूँगा।'

स्त्री ने उत्तर दिया—'जानते नहीं हो, नगर में शिशुपाल का राज्य है। अब कोई इस प्रकार बलात्कार नहीं कर सकता।'

अमीर ने तलवार निकाल कर दरवाज़े पर आक्रमण किया। सहसा एक पहरेदार ने आकर उसका हाथ थाम लिया और कहा—'यह तुम क्या कर रहे हो?'

अमीर ने उसकी ओर इस तरह देखा जैसे भेड़िया भेड़ को देखता है और क्रोध से बोला—'तुम कौन हो?'

'मैं पहरेदार हूँ।'

'तुमको किसने नियत किया है?'

'न्याय-मन्त्री ने।'

'मूर्खता न करो। मैं उसे भी मिट्टी में मिला सकता हूँ।'

पहरेदार ने साहस से उत्तर दिया—'परन्तु इस समय महाराज अशोक भी आ जायँ तो भी नहीं टलूँगा।'

'क्यों मृत्यु को बुला रहे हो?'

'मैंने जो प्रण किया है, उसे पूरा करूँगा।'

'किससे प्रण किया है?'

'न्याय-मन्त्री से।'

'क्या?'

'यहाँ कि जब तक तन में प्राण है और जब तक रुधिर का अन्तिम बिन्दु भी मेरे शरीर में शेष है, अपने कर्त्तव्य से कभी पीछे न हटूँगा।'

अमीर ने तलवार खींच ली। पहरेदार ने पीछे हट कर कहा—'आप ग़लती कर रहे हैं, मैं नौकरी पर हूँ।'

परन्तु अमीर ने सुना अनसुना कर दिया और तलवार लेकर झपटा। पहरेदार ने भी तलवार खींच ली, परन्तु अभी वह नया था, पहले ही वार में गिर गया और मारा गया। अमीर का लहू सूख गया। उसके हाथों के तोते उड़ गये। उसकी यह इच्छा न थी कि पहरेदार को मार दिया जाय। वह उसे केवल डराना चाहता था, परन्तु वार मर्म-स्थान पर लगा। अमीर ने उसकी लाश को एक ओर कर दिया और आप भाग निकला।

( ५ )

प्रातःकाल इस घटना की घर-घर में चर्चा थी। लोग हैरान थे कि इतना साहस किसे हो गया कि पुलिस के कर्मचारी को मार डाले और फिर शिशुपाल के शासन में। राजधानी में आतंक छा गया। पुलिस के आदमी चारों ओर दौड़ते फिरते थे, मानो यह उनके जीवन और मरण का प्रश्न हो। न्याय-मन्त्री ने भी मामले की खोज में दिन-रात एक कर दी। यह घटना उनके शासन-काल में पहली थी। उनको खाना-पीना भूल गया, आँखों से नींद उड़ गई।

घातक की खोज में उन्होंने कोई कसर न उठा रक्खी, परन्तु कुछ पता न लगा।

असफलता का प्रत्येक दिन अशोक की क्रोधाग्नि को अधिकाधिक प्रज्वलित कर रहा था। वे कहते—'तुमने कितने ज़ोर से न्याय का दावा किया था, अब क्या हो गया?' न्याय-मन्त्री लज्जा से सिर झुका लेते। महाराज कहते—'घातक कब तक पकड़ा जायगा?' न्याय-मन्त्री उत्तर देते—'यत्न कर रहा हूँ, जल्दी ही पकड़ लूँगा।' महाराज कुछ दिन ठहर कर फिर पूछते—'हत्यारा पकड़ा गया?' न्याय-मन्त्री कहते—'नहीं।' महाराज का क्रोध भड़क उठता, उनकी आँखों से आग की चिनगारियाँ निकलने लगतीं, बादल की नाईं गर्ज कर बोलते—'मैं यह 'नहीं' सुनते-सुनते तङ्ग आ गया हूँ।'

इसी प्रकार एक सप्ताह बीत गया, परन्तु हत्यारे का पता न लगा। अन्त में महाराज अशोक ने शिशुपाल को बुला कर कहा—'तुम्हें तीन दिन की अवधि दी जाती है, यदि इस बीच में घातक न पकड़ा गया, तो तुम्हें फाँसी दे दी जायगी।'

इस समाचार से नगर मे हलचल-सी मच गई। एक ही मास के अन्दर-अन्दर शिशुपाल लोक-प्रिय हो चुके थे। उनके न्याय की चारों ओर धाक बँध गई थी। लोग महाराज को गालियाँ देने लगे। जहाँ चार मनुष्य इकट्ठे होते, इसी विषय पर बातचीत करते। वे चाहते थे कि चाहे कुछ भी होजाय, परन्तु शिशुपाल का बाल बाँका न हो। शिशुपाल स्वयं

बड़ी उत्सुकता के साथ घातक की खोज में लीन थे, परन्तु व्यर्थ। यहाँ तक कि तीसरा दिन आ गया। अब कुछ ही घण्टे बाक़ी थे।

रात्रि का समय था, परन्तु शिशुपाल की आँखों में नींद न थी। वे नगर के एक घने बाज़ार के अन्दर घूम रहे थे। सहसा एक मकान की खिड़की खुली और एक स्त्री ने झाँक कर बाहर देखा। चारों ओर निस्तब्धता छाई हुई थी। स्त्री ने धीरे से कहा—'तुम कौन हो? पहरेदार?'

निराशा के अन्धकार में आशा की एक किरण चमक गई। शिशुपाल ने उत्तर दिया—'नहीं, मैं न्याय-मन्त्री हूँ।'

'ज़रा यहीं ठहरो।'

स्त्री खिड़की से पीछे हट गई और दीपक लेकर दरवाज़े पर आई। न्याय-मन्त्री को साथ लेकर वह अपने कमरे में गई और बोली—'आज अन्तिम रात्रि है?'

न्याय-मन्त्री ने चुभती हुई दृष्टि से स्त्री की ओर देखा और उत्तर दिया—'हाँ, अन्तिम!'

शब्द साधारण थे परन्तु इनका अर्थ साधारण न था। स्त्री तलमला कर खड़ी हो गई और बोली—'मैं इस घटना को अच्छी तरह जानती हूँ।'

शिशुपाल की मृत-प्राय देह में प्राण आ गये, वह धैर्य धर कर बोले—'कहो।'

स्त्री ने कहा—'रात्रि का समय था। घातक ने इस मकान

का दरवाज़ा खट-खटाया। वह यहाँ प्रायः आया करता है।'

'परन्तु क्यों?'

'यह मै नहीं जानती।'

'फिर आगे?'

'मैने उत्तर दिया—जिसके पास तुम आये हो, वह यहाँ नहीं है, परन्तु उसने इसे झूठ समझा और दरवाज़ा तोड़ने को उद्यत हुआ। पहरेदार ने उसे रोका, और वह उसके हाथ से मारा गया।'

न्याय-मन्त्री ने पूछा—'परन्तु घातक कौन है?'

स्त्री ने उनके कान में कुछ कहा और सहमी हुई कबूतरी की नाईं चारों ओर देखा।

( ६ )

दूसरे दिन दरबार में तिल धरने को स्थान न था। आज न्याय-मन्त्री का भाग्य-निर्णय होने को था। अशोक ने सिंहासन पर पैर रखते ही कहा—'न्याय-मन्त्री!'

शिशुपाल सामने आये। इस समय उनके मुख पर कोई चिन्ता, कोई अशान्ति न थी।

महाराज ने पूछा—'घातक का पता लगा?'

न्याय-मन्त्री ने साहस-पूर्वक उत्तर दिया—'हॉ, लग गया।'

'पेश करो।'

न्याय-मन्त्री ने सिर झुका कर सोचा। इस समय उनके हृदय में दो विरोधी शक्तियों का संग्राम हो रहा था। यह

गये। महाराज उस जंगले में खड़े हो गये, जो अपराधी के लिए नियत किया गया था। छत्र-पति नरेश का, अपने राज्य में, स्वयं उसके नौकर के हाथ, यह सम्मान हो सकता है, इसकी किसी को आशंका न थी, परन्तु शिशुपाल दृढ़ सङ्कल्प के साथ न्यायासन पर विराजमान थे। उन्होंने आँख से महाराज को प्रणाम किया। हाथ को न्याय-रज्जु ने बाँध रक्खा था। वे धीरे से बोले—'तुम पर पहरेदार की हत्या का अपराध है। तुम इसका क्या उत्तर देते हो?'

महाराज अशोक ने होंठ काट कर उत्तर दिया—'वह उद्दण्ड था।'

'तो तुम अपराध स्वीकार करते हो?'

'हाँ, मैंने उसको मारा है, परन्तु मैंने जानबूझ कर नहीं मारा।'

'वह उद्दण्ड नहीं था, मैं उसे चिरकाल से जानता हूँ।'

'वह उद्दण्ड था।'

'तुम झूठ बोलते हो। मैं तुम्हारे वध की आज्ञा देता हूँ।'

अशोक के नेत्र लाल हो गये। मन्त्रियों ने तलवारें निकाल लीं। कई आदमी शिशुपाल को गालियाँ देने लगे। कई एक ने यहाँ तक कह दिया—'न्याय-मन्त्री पागल हो गया है।' एक आवाज आई—'तुम अपना सिर बचाओ।' अशोक ने हाथ उठा कर मौन रहने का संकेत किया। चारों ओर फिर वही निःस्तब्धता छा गई। न्याय-मन्त्री ने कड़क कर कहा—'आप

स्भावी है. परन्तु शास्त्रों मे राजा को ईश्वर का रूप माना गया है। उसे ईश्वर ही दण्ड दे सकता है। यह काम न्याय-मन्त्री की शक्ति से बाहर है. अतएव मै आज्ञा देता हूँ कि महाराज चेतावनी देकर छोड़ दिये जाँय, और उनकी यह मूर्ति फाँसी पर लटकाई जाय, जिससे लोगों को शिक्षा मिले।'

न्याय-मन्त्री का जय-जयकार हुआ, लोग इस न्याय पर मुग्ध हो गये। वे कहते थे—'यह मनुष्य नहीं, देवता है, जो न किसी व्यक्ति से डरता है और न किसी शक्ति के आगे सिर झुकाता है। अन्तःकरण की आवाज़ सुनता है और उस पर निर्भयता से बढ़ा चला जाता है। और कोई होता तो महाराज के सामने हाथ बाँध कर खड़ा हो जाता. परन्तु इसने उन्हें 'तुम' कह कर सम्बोधन किया मानो कोई साधारण अपराधी हो। उनके शरीर मे रोमाञ्च हो गया। सहस्रों नेत्रों ने आनन्द से आँसू बहाये और सहस्रों जिह्वाओं ने ज़ोर-ज़ोर से कहा—'न्याय-मन्त्री की जय!

रात हो गई थी, न्याय-मन्त्री राज-महल मे पहुँचे और अशोक के सम्मुख अँगूठी और मुद्रा रख कर बोले—'महाराज! ये अपनी वस्तुएँ सँभाले। मै अपने गाँव वापस जाऊँगा।'

अशोक ने सम्मान भरी दृष्टि से उनकी तरफ देख कर कहा—'आज आपने मेरी आँखे खोल दी है। अब यह कैसे हो सकता है?

'परन्तु श्रीमान् ..........'

अशोक ने बात काट कर कहा—'आपका साहस मैं कभी न भूलूँगा। यह बोझ आप ही उठा सकते हैं। मुझे कोई दूसरा इस पद के योग्य दिखाई नहीं देता।'

न्याय-मन्त्री निरुत्तर हो गये।

---

# अशोक शोक में

[ श्रीयुत पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र' ]

और कलिंग-देश-वासियों ने यह सन्देश धीरज से सुना, कि महती मागधी सेना के साथ, युवक सम्राट् अशोक ने उन पर चढ़ाई कर दी है।

क्यों चढ़ाई की—? शांत देश पर बेकसूर आदमियों पर सम्राट् अशोक ने आग और गर्म लोहा बरसाने का विचार क्यों किया ?

, साम्राज्यवाद के लिये। आदमी कुछ ऐसा लोभी या पागल प्राणी है कि शान्ति या संतोष तो उसके पास भी नहीं फटकने पाते।

हरएक नर, नरेश होना चाहता है और एक-एक नगण्य नरेश भी अपने को परमेश्वर मानना—दूसरों से मनवाना चाहता है।

मनुष्य-जीवन में ही कुछ नशा है। नशे में ही झूठ या

जैसे छाया छिप जाती है, वैसे ही, भगवान की इच्छा से शैतान बेजान किया जा सकता है।

"ले! हथियार उठा ले! कलिंगी जवान! तेरे देश पर विदेशी राज करने को आ रहा है। विदेशी है अशोक वैसे ही, जैसे हूण; क्योंकि जो भले आदमी की आज़ादी छीनना चाहे वह स्वदेशी आर्य हो नहीं सकता।

"कलिंगीय जवानों! धनुष पर बान तानो! और बेईमानों, मागधी नादानों को बतला दो कि तुम गाजर-मूली और साग-पात नहीं हो—जिसे कोई भी पशु खा-पचा सके।

"वीरो! जो तुमको गुलाम रखना चाहे, उसके पितरों और देवों को बिना मारे न छोड़ना! गुलामी नरक है, आज़ादी स्वर्ग। गुलामी महानीच मौत है, और आज़ादी है—स्वर्गीय अमरता।

"वीरो! बोलो, जननी जन्म-भूमि की जय! और दुश्मनों को रक्त से नहला कर बतला दो कि तुमने ऐसी माँ की छाती से, ऐसा तेजस्वी दूध पीया है जिससे तुम्हारी हड्डियाँ और नसें फ़ौलादी बन गयी हैं।"

अब क्या था? सारा कलिंग देश एक हो गया। चारों कोनों पर मागधी सेना से लड़ाई छिड़ गयी..

उन दिनों भारतवर्ष? उसका एक-एक प्रदेश स्वतंत्रता की कीमत जानता था। युद्ध में मरने वाले 'वीर' तो आज

भी माने जाते हैं, लेकिन वीर-गति की इज़्ज़त इस देश में अब उतनी नहीं, जितनी उस ज़माने में थी—जिसका गुणगान आज भी होता है। जो हो...

अशोक के मागधी वीर कलिंगियों पर टिड्डियों की तरह टूट पड़े। मगर फ़ौलादी दीवार की तरह कलिंगी वीर दृढ़ता से डटे रहे।

अशोक ने आग बरसायी, लोह-बाणों की बीहड़ बरसात भी कलिंगियों के माथे पर मागधियों ने लगायी—मगर कलिंगी अचल थे—हिमालय!

कई लाख कलिंगीय देश-भक्त अपने इष्ट देवों और मातृ-भूमि के नाम पर सदा के लिये संसार से विदा हो, अमर समर-सेज पर सो गये!

कई हज़ार आततायी मागधी वीर भी वीर-गति को पा गये!

फिर भी युद्ध का ऊँट किस करवट बैठेगा, यह सम्राट अशोक की समझ में न आ सका।

कई महीनों तक घनघोर, धुआँधार युद्ध होने पर भी कलिंग देश पर मागधी सेना अपना झंडा न फहरा सकी।

"इस युद्ध में विजय पाने की सख्त ज़रूरत है।" सम्राट ने मंत्रि-मंडल के सामने सलाह की बात की।

"सख्त मुश्किल है—धर्मावतार!" एक मंत्री बोला—

"पचास हज़ार कलिंगी सिपाहियों के खेत रहने पर भी उनके पाँव उखड़ते नहीं हैं।"

"इस देश के लोग वीर हैं, मंत्रीजी!" अशोक ने सत्य की रक्षा की—"ऐसों से लड़ने मे भी मज़ा आता है।"

"बेशक महाप्रभो!" युद्ध-मंत्री मस्ती से मुस्कराता हुआ बोला—"वीरों से ही लड़ने में अवीरी रंग जमता है। तलवारों के कुमकुमे, खून की पिचकारी—मुंडों का भैरव-गान और रुंडों का तांडव-ताल—अहा हा!..."

"कलिंगियों से लड़ कर मेरी भुजाएँ संतुष्ट हो गयीं।"

"मगर यह—यह तो शत्रु के गुण की प्रशंसा हुई—अब अपने दुर्गुण की निंदा भी होनी चाहिये। इतने दिनों से गुप्त-महा-साम्राज्य की सेनाएँ एक क्षुद्र देश को न हरा सकीं—यह डूब मरने की बात है!" सम्राट् बोले...

"अब हम ज्यादा डट कर—सिमिट कर लड़ेंगे।"

"सिमिट कर या फैल कर—डट कर या हट कर—जैसे भी हो, इन कलिंगियों को हराना होगा।"

"नहीं तो, संसार हमारी इज्जत पर थूकेगा—हुँ हुँ! सम्राट् अशोक की मागधी महासेना एक मामूली मुल्क के मुट्ठी भर मनुष्यों से हार खा गयी"

"ऐसी हार से मौत हज़ार बार बेहतर है, आर्य वीरो!"

"जय महा-सम्राट्!" सारे वीर दहाड़ उठे!!

दूसरे दिन मागधी सेना विद्युत्तेज से कलिंगियों पर चमकी. . तड़पी !

लोहे से बजे और लहू की लहरें मैदाने-जंग में छहरने-लहरने लगीं !

"कलिंगीय महावीर लड़े और लड़े ! दादा गिरा तो बाप लड़ा और बाप के बाद सुकुमार बेटों ने मागधी फौजियों के हाथों से लोहे के चने चबाये.... !

कलिंग देश की वामांगनाएँ भी रणांगण में रोप-रक्त आँखें तानें—अशोक साम्राज्यवादी की बर्बादी के लिये—हज़ार-हज़ार की क़तारों में जूझने—मरने लगीं।

मगर अफ़सोस की बात है कि कलिंग देश को वीरता का पुरस्कार—पराजय के रूप में मिला। वह भी तब—जब वह देश लड़ते-लड़ते निर्धन—निर्जन-सा हो गया था।

तभी तो! श्मशानवत् कलिंग में प्रेतों की तरह प्रवेश करते हुए पाटलिपुत्र-पति सम्राट् अशोक के मन में—न जाने कैसी विचित्र चुटकी लेने वाला कोई शोक समा गया! अशोक—शोक !!

पहले तो कलिंग-विजयी सम्राट् अशोक ने मैदानों और खेतों में मुर्दों के ढेर के ढेर देखे।

किसान जैसे खलिहान में भुस-धान की अटान उठा दे वैसे ही, काल-किसान ने भी रण-खेत में पुरुषार्थ की फ़स्ल को काट कर जमा कर दिया था !

# चरित्र-संगठन

[ श्री गुलाबराय ]

मनुष्य की विशेषता उसके चरित्र में है। यदि एक मनुष्य दूसरे से अधिक आदरणीय समझा जाता है तो वह उसके चरित्र के कारण। मनुष्य का आदर उसके पद, धन वा विचार के कारण होता है, परन्तु यह सब एक प्रकार से बाह्य हैं। पद स्थायी नहीं। यदि स्थायी भी हो तो उसके लिये जो आदर होता है, वह भय के कारण। धन का आदर वही करेगा जिसको धनी से कुछ लाभ उठाने की इच्छा हो। विद्या का मान सज्जन अवश्य करते हैं। वह भी जब विद्या-विनय एवं चरित्र से युक्त हो। रावण में विद्या, धन, बल तथा पद होते हुए भी वह अपने राक्षसी कर्म के कारण निन्दनीय था। राक्षस साक्षर होकर वन्दनीय नहीं बन जाते।

मनुष्य का मूल्य उसके चरित्र में है। चरित्र में ही उसके आत्म-बल का प्रकाश होता है और यह पता लगता है कि

उसकी आत्मा कितनी बलवान् है। मनुष्य का चरित्र ही बतलाता है कि वह कितने पानी का है।

यह चरित्र क्या है जो इतना महत्त्व रखता है? यह चरित्र उन गुणों का समूह है जो हमारे व्यवहार से सम्बन्ध रखता है। दार्शनिक बुद्धि, वैज्ञानिक कौशल, काव्य की प्रतिभा, ये सब वाञ्छनीय हैं, परन्तु ये हमारे चरित्र से सम्बन्ध नहीं रखते। फिर, चरित्र में क्या बात आती है? विनय, उदारता, लालच में न पड़ना, धैर्य, सत्य-भाषण और वचन का प्रतिपालन करना एवं कर्त्तव्य-परायणता, ये सब गुण चरित्र में आते हैं। चरित्र में इन सब बातों के अतिरिक्त और भी बहुत सी बातें हैं, परन्तु ये मुख्य हैं। ये सब गुण प्रायः स्वाभाविक होते हैं, परन्तु अभ्यास से ये बढ़ाये एवं पुष्ट किये जाते हैं। अभ्यास में सत्संग से बहुत सहायता मिलती है। अभ्यास के लिये बाल्य काल ही विशेष उपयुक्त है। यह काल बनाव का है। बनते समय जैसा मनुष्य बन जावे वैसा ही वह जीवन पर्यन्त रहता है। बाल्य-काल में स्नायु-संस्थान कोमल रहता है तथा वह अन्य संस्कारों से दूषित नहीं होता इस कारण जो उस काल में अभ्यास डाला जाता है, वह सहज ही में स्थिर हो जाता है। प्रौढ़ावस्था में अन्य संस्कारों के दृढ़ हो जाने के कारण नये संस्कार कठिनाई से जमते हैं।

मनुष्य जीवन का प्रभात जिसमें सब प्रकार की शक्तियों के विकास की सम्भावना होती है विद्यार्थी जीवन के अन्तर्गत

होता है। जो लोग इस विद्यार्थी-जीवन में हमारे पथ-प्रदर्शक है, उनका परम उत्तरदायित्व है कि यह काल केवल ज्ञान संग्रह में ही न चला जावे। बाल्यावस्था फिर लौट कर नहीं आती। भावी चरित्र निर्माण करने का यही सुअवसर है। विद्यार्थी और शिक्षक अपने-अपने उत्तरदायित्व को समझ निम्न-लिखित सिद्धान्तों पर ध्यान दें और इनसे विद्यार्थियों के चरित्र-संगठन में सहायता लें। यद्यपि ये सिद्धान्त प्राचीन काल से बतलाये जा रहे हैं और इसीलिये इन पर कुछ लिखना नीरस पिष्ट-पेषण समझा जाता है, तथापि इनके प्रचार की आज भी इतनी ही आवश्यकता है जितनी कि प्राचीन काल में थी, और चरित्र-संगठन की आवश्यकता देखते हुए इन पर विवेचना करना समय का दुरुपयोग नहीं समझा जावेगा।

## विनय

विनय विद्या का भूषण है। बिना विनय के विद्या शोभा नहीं देती। श्रीमद्भगवद्गीता में ब्राह्मण का विशेषण "विद्या विनय-सम्पन्न" कहा है। जिस विद्या के साथ विनय नहीं है उससे कोई लाभ भी नहीं उठा सकता। विनय केवल विद्या को ही नहीं वरन् धन और बल दोनों को ही शोभा देती है। भृगुजी ने कृष्ण भगवान् के वक्षःस्थल पर लात मारी तथा भगवान् पूछने लगे कि महाराज! आपके पैर में चोट तो नहीं आई? विनय का क्या ही उत्तम आदर्श है! विनय केवल

शिष्टाचार के लिए ही आवश्यक नहीं है, वरन् इससे आत्मा की शुद्धि होती है। विनय-शील मनुष्य अभिमान के दोष से बचा रहता है। नम्र-भाव दूसरों में प्रेम-भाव उत्पन्न करता है और अपने मे अपूर्व शान्ति अनुभव कराता है। धन, बल और विद्या के होते हुए भी जो विनय करता है उसको कोई कायर नहीं कह सकता। भय-वश विनय आत्मा को गिराती है किन्तु प्रेम और निरभिमानता का विनय आत्मा का उत्थान करती है। विनय का अभाव एक प्रकार का खोखलापन प्रकट करता है। जिन लोगों में कोई श्लाघनीय गुण नहीं होता है वे अपनी ऐंठ तथा डॉट-फटकार से लोगों पर प्रभाव जमाते है, किन्तु गुणवानों को इसकी आवश्यकता नहीं, उनका प्रभाव स्वतःसिद्ध है। यदि विनय-शील मनुष्य का समाज मे प्रभाव थोड़ा हो तो विनय-शील मनुष्य का दोष नहीं। यह समाज का ही दोष है: और इसके अतिरिक्त प्रेम का प्रभाव चाहे थोड़ा हो, दबाव के प्रभाव की अपेक्षा, चिरस्थायी होता है। यद्यपि थोड़ी देर के लिये मान भी लिया जाय कि विनय सब स्थानों में काम नहीं देती—जैसे, शत्रु के सम्मुख--तथापि हमको यह कहना पड़ेगा कि विनय-शील पुरुष को ऐसे अवसर कम आवेंगे कि उसको अपनी विनय के कारण गौरव-हानि का दुःखद अनुभव करना पड़े। इसके अतिरिक्त जीवन में अधिकांश ऐसे अवसर है जिनमें विनय से सगौरव कार्य-

साधन हो सकता है। खेद तो इस बात का है कि हम लोग मित्र और गुरु-जनों के साथ भी विनय का व्यवहार नहीं करते। विनय के साथ निरभिमानता, मनुष्य जाति का आदर, सहन-शीलता इत्यादि अनेक सद्गुण लगे हुए हैं। इसके अभ्यास में इन सब गुणों का अभ्यास हो जाता है।

## उदारता

उदारता का अभिप्राय केवल निस्संकोच भाव से किसी को धन दे डालना ही नहीं, वरन् दूसरों के प्रति उदार-भाव रखना भी है। उदार पुरुष सदा दूसरों के विचारों का आदर करता है और समाज में सेवक-भाव से रहता है। "उदार-चरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्" में जो उपदेश दिया गया है, वह केवल धन की उदारता नहीं, वरन् उसमें प्रेम और सेवा की भी उदारता सम्मिलित है। बहुत से लोग आपकी धन-सम्बन्धिनी उदारता की अपेक्षा नहीं करते। बहुत से निर्धन भी इस बात को अपनी निर्धनता के गौरव के विरुद्ध समझते हैं कि वे आपकी आर्थिक सहायता लें, किन्तु वे आपके उदारता-पूर्ण शब्दों के सदा भूखे रहते हैं। यह न समझो कि केवल धन से ही उदारता हो सकती है। सच्ची उदारता इस बात में है कि मनुष्य को मनुष्य समझा जावे। उसके भावों का उतना ही आदर किया जावे जितना कि अपने का। ऐसा आदर उदारता नहीं है वरन् कर्तव्य है। प्रत्येक मनुष्य में आदरणीय गुण

होते हैं। यह न समझना चाहिये कि धन, विद्या अथवा पद ही आदर का विषय है। ग़रीब आदमी यदि ईमानदार है तो वह बेईमान धनाढ्य की अपेक्षा कहीं आदरणीय है, क्योंकि ग़रीबी में ईमानदार रहना और भी कठिन है। ग़रीब ही हमारे आदर का विषय है। मेहनत करने वालों में एक दैवी प्रभा रहती है जो सदा पूजा-योग्य है। जिनको लोग नीच एवं दलित समझते हैं उनके प्रति आदर-भाव रखना मनुष्य की आत्मा को सुख तथा शान्ति देना है। जो लोग अपने साथियों के साथ आदर-भाव रखते हैं, उनकी भूलों को, उनके हठ तथा वैर को स्वयं उपेक्षा-पूर्वक क्षमा कर देते हैं, ऐसे लोग परम उदार हैं। यह उदारता धन की उदारता की अपेक्षा कठिनतर है, तथा उसी अनुपात में अधिक श्लाघनीय है। धन की उदारता के साथ सब से बड़ी एक और उदारता की आवश्यकता है। वह यह कि उपकृत के प्रति किसी प्रकार का अहसान न जताया जावे। अहसान दिखाना उपकृत को नीचा दिखाना है। अहसान जता कर उपकार करना अनुपकार है। इसीलिए अपने यहाँ गुप्त-दान का बड़ा महत्त्व रक्खा गया है।

## लालच में न पड़ना

मनुष्य जितना ही बलवान् माना गया है उतना ही कमज़ोर है। ज़रा से अविचार में मनुष्य का पतन हो जाता है, और वर्षों का तप धूल में मिल जाता है। लालच

के उपाख्यान हमारे आदर्श मौजूद हैं। महेश शक्ति के पति हैं इसीलिए कि वह काम को भस्म करने में समर्थ रहे। जो लोग लालच से बच सकते हैं, अपनी इच्छाओं को रोक सकते हैं, वही शक्ति-सम्पन्न और प्रभावशाली बनने में समर्थ होते हैं।

## धैर्य

कठिनाइयों में चित्त को स्थिर रखना धैर्य कहलाता है। मनुष्य का जीवन-पथ कण्टकाकीर्ण है। मनुष्य-जीवन में कठिनाइयाँ ही कठिनाइयाँ हैं; किन्तु उनका सामना ज्ञानी लोग ज्ञान से करते हैं, एवं मूर्ख लोग रोकर करते हैं। कठिन से कठिन स्थिति में प्रसन्न रहना आत्मा की उच्चता का सूचक है। हमको अपनी आध्यात्मिकता का गौरव होना चाहिए। कठिनाइयाँ प्रायः बाह्य होती हैं। यदि हम उन पर विजय पा लें तो अच्छा ही है, और विजय न पा सकें तो उनसे दब कर दुखी होना कायरता है। कठिनाइयों में दुखी होने से वह बढ़ती ही हैं, घटती नहीं। हमको अपनी शक्तियों से निराश न होना चाहिए। कठिनाइयों से दुखित न होना ही उन पर विजय पाना है। कठिनाइयों में दुखित होना अपने विपत्तियों की जीत स्वीकार करना है। राजा हरिश्चन्द्र धैर्य के एक ज्वलन्त उदाहरण हैं। श्री रामचन्द्रजी के लिए कहा जाता है कि राज्याभिषेक के कारण उनको हर्ष नहीं

हुआ; और वनवास से ग्लान-मुख नहीं हुए। इसीसे वह जगद्-वन्दनीय हो रहे हैं।

## सहकारिता

यद्यपि सहकारिता के लाभ प्रत्यक्ष हैं, तथापि कुछ लोग असहकारिता में ही अपना गौरव मानते हैं। लोगों का यह भ्रम है कि सहकारिता में हम अपनी न्यूनता स्वीकार करते हैं। मनुष्य सामाजिक जीव है, उसका अकेले काम चलना अत्यन्त कठिन हो जावेगा। हम नहीं जानते कि हम भी दूसरों की सहकारिता से कितना लाभ उठाते हैं। स्वयं अपनी सहकारिता से दूसरों को वञ्चित रखना कृतघ्नता है। सहकारिता में मनुष्य की एकता एवं समाज की स्थिति का मूल है। सहकारिता को चरित्र के भीतर इसीलिए रक्खा है कि उसमें एक प्रकार का वृथाभिमान त्यागना पड़ता है।

## सत्य बोलना और वचन का पालन करना

यद्यपि सत्य बोलना सब से सहज बात है, क्योंकि उसमें नमक-मिर्च के लिए बुद्धि का प्रयोग नहीं करना पड़ता है, तथापि सत्य बोलने के लिए बड़े आध्यात्मिक बल की आवश्यकता है। जहाँ तक हो अप्रिय-सत्य न बोला जावे, किन्तु जहाँ अप्रिय-सत्य न बोलने से समाज के हित की हानि होती है, वहाँ उसको प्रियता के लिए दबाना पाप है। चरित्रवान पुरुष को अपनी आत्मा में इतना बल रखना चाहिए कि निर्भयता के साथ कह सके। सत्य मनसा, वाचा, कर्मणा

होना चाहिए। जो कहे वही करे, और जो कर सके वही कहे; तथा कह कर फिर न हटे। "प्राण जायँ पर वचन न जाई" का आदर्श सामने रक्खे। इसका अर्थ यह नहीं है कि हठवाद करे, किन्तु जब तक वह एक बात को सत्य समझे, उस पर दृढ़ रहे।

## कर्त्तव्य-परायणता

सत्य के अतिरिक्त कर्त्तव्य में और बहुत सी बातें आती हैं, अतः शेष मे एक व्यापक बात रख दी गई। यद्यपि यह कहना कठिन है कि कर्त्तव्य क्या है, तथापि मोटी रीति से सब लोग अपना-अपना कर्त्तव्य जानते हैं। जो बातें बचने की हैं उनसे बचना चाहिए, और जो करने की हैं उनको सौ हानि उठा कर भी करना चाहिए। बस, यही कर्त्तव्य-परायणता है। अपने कर्त्तव्य मे शैथिल्य न डालना चाहिए। जहाँ ज़रा-सा छिद्र हुआ वहाँ समझना चाहिए कि पतन का द्वार खुल गया। कर्त्तव्य वह नहीं जो कि केवल काग़ज़ पर लिखा हो। प्रत्येक स्थिति के अनुकूल अपना कर्त्तव्य निश्चित कर हमको उसके सम्पादन में आरूढ़ रहना चाहिए। हमको केवल कर्त्तव्य ही नहीं वरन् अपने कर्त्तव्य से भी अधिक करने के लिए तैयार रहना चाहिए। अपना सबक याद करना हमारा कर्त्तव्य है, किन्तु सामने के घर में आग लगी हो तो सबक़ याद करने की अपेक्षा आग बुझाना ही हमारा कर्त्तव्य है। वास्तव में जो कुछ हमें करना चाहिए वही कर्त्तव्य है। जिस काम से

तुम कर सकते हो—फिर चाहे वह दूसरे के करने का ही हो—और यदि तुम देखो कि तुम्हारे न करने से दूसरे के हित की हानि होती है तो, उसको करना अपना परम कर्त्तव्य समझो। जो तुम्हारा कर्त्तव्य है उससे कदापि न हटो। उसमें चाहे लोग निन्दा करें, चाहे स्तुति। कर्त्तव्य के पालन करने में ही हमारा आत्म-गौरव रह सकता है। आलस्यवश या लोभवश कर्त्तव्य से च्युत होना ही हमारा पतन है। कर्त्तव्य-पालन के लिए प्रतिक्षण अभ्यास का अवसर है, इस अभ्यास को करते रहने से हमारी आत्मा शुद्ध एवं पवित्र बन कर उन्नत हो जावेगी। हम अपनी उन्नति आप ही कर सकते हैं। आत्मा का उद्धार आत्मा से ही होता है।

---

# बञ्जो

[श्रीजयशंकर 'प्रसाद']

क्यों बेटी ! मधुवा आज कितने पैसे ले आया ?

नौ आने, बापू ?

कुल नौ आने ! और कुछ नहीं ?

पाँच सेर आटा भी दे गया है। कहता था, एक रुपये का इतना ही मिला।

'वाह रे समय' कह कर बुड्ढा एक बार चित हो कर साँस लेने लगा।

कुतूहल से लड़की ने पूछा—कैसा समय बापू ?

बुड्ढा चुप रहा।

यौवन के व्यञ्जन दिखाई देने से क्या हुआ, अब भी उसका मन दूध का धोया है। उसे लड़की कहना ही अधिक संगत होगा।

उसने फिर पूछा—कैसा समय बापू ?

चिथड़ों से लिपटा हुआ, लम्बा चौड़ा, अस्थि-पञ्जर झनझना उठा। खाँस कर उसने कहा—जिस भयानक अकाल का स्मरण करके आज भी रोंगटे खड़े हो जाते हैं, जिस पिशाच की अग्नि-क्रीड़ा में खेलती हुई तुझको मैंने पाया था, वही संवत् ५५ का अकाल आज के सुकाल से भी सदय था-कोमल था। तब भी आठ सेर का अन्न बिकता था। अब पाँच सेर की भी बिक्री में भी कहीं जूँ नहीं रेंगती जैसे—सब धीरे-धीरे दम तोड़ रहे हैं! कोई अकाल कह कर चिल्लाता नहीं! ओह! मै भूल रहा हूँ! कितने ही मनुष्य तभी से एक बार भोजन करने के अभ्यासी हो गए हैं। जाने दो, होगा कुछ, बन्जो! जो सामने आवे उसे झेलना चाहिए।

बन्जो मटकी में डेढ़-पाव दूध, चार कंडों पर गरम कर रही थी। उफनाते हुए दूध को उतार कर उसने कुतूहल से पूछा-बापू! उस अकाल में तुमने मुझे पाया था। लो, दूध पीकर मुझे वह पूरी कथा सुनाओ!

बुड्ढे ने करवट बदल कर दूध लेते हुए, बन्जो की आँखों में खेलते हुए आश्चर्य को देखा। वह कुछ सोचता हुआ दूध पीने लगा।

थोड़ा-सा पीकर उसने पूछा-अरे तूने दूध अपने लिये रख लिया है?

बञ्जो चुप रही। बुड्ढा खड़खड़ा उठा—तू बड़ी मूर्ख है. रोटी किससे खायगी रे?

सिर झुकाये हुए, बञ्जो ने कहा—नमक और तेल से मुझे रोटी अच्छी लगती है, बापू!

बचा हुआ दूध पीकर बुड्ढा फिर कहने लगा—यही समय है, देखती है। गायें डेढ़-पाव दूध देती हैं। मुझे तो आश्चर्य होता है कि उन सूखी ठठरियों में से इतना दूध भी कैसे निकलता है।

मधुवा दबे पाँव आकर उसी झोंपड़ी के एक कोने में खड़ा हो गया। बुड्ढे ने उसकी ओर देख कर पूछा—मधुवा! आज तू क्या क्या ले गया था?

डेढ़-सेर घुमची, एक बोझा महुआ का पत्ता और एक खाँचा कंडा, बाबाजी!—मधुआ ने हाथ जोड़ कर कहा।

इन सब का दाम एक रुपया नौ आना ही मिला?

चार पैसे बंधु को मजूरी में दिये थे।

अभी दो सेर घुमची और होगी, बापू! बहुत सी फलि[illegible] बनबेरी के झुरमुट में हैं, झड़ जाने पर उन्हें बटोर लूँगी। बञ्जो ने कहा।

बुड्ढा मुस्कराया। फिर उसने कहा—मधुवा! [illegible] को अच्छी तरह चराता नहीं बेटा! देख तो. बबली कि[illegible] दुबली हो गई है!

कहाँ चरावें, कुछ ऊसर-परती कहीं चरने के लिए बची भी है?—मधुवा ने कहा।

बञो अपनी भूरी लटों को हटाते हुए बोली—मधुवा गंगा में घंटों नहाता है, बापू! गायें अपने मन से चरा करती हैं। यह जब बुलाता है तभी सब चली आती हैं।

बञो की बात न सुनते हुए बाबा जी ने कहा—तू ठीक कहता है, मधुवा! पशुओं को खाते-खाते मनुष्य, पशुओं के भोजन की जगह भी खाने लगे। ओह! कितना इनका पेट बढ़ गया है! वाह रे समय!!

मधुवा बीच ही में बोल उठा—बञो! बनिया ने कहा है कि मरफोंका की पत्ती दे जाना, अब मैं जाता हूँ।

कह कर वह झोंपड़ी के बाहर चला गया। सन्ध्या गाँव की सीमा में धीरे-धीरे आने लगी।

अन्धकार के साथ ही ठण्ड बढ़ चली। गंगा की कछार की झाड़ियों में सन्नाटा भरने लगा। नालों के करारों में चरवाहों के गीत गूँज रहे थे।

बञो दीप जलाने लगी। उस दरिद्र कुटीर के निर्मम अन्धकार में दीपक की ज्योति तारा-सी चमकने लगी।

बुड्ढे ने पुकारा—बञो!

'आई'—कहती हुई वह बुड्ढे की खाट के पास आ बैठी और उसका सिर सहलाने लगी। कुछ ठहर कर बोली—बापू! उस अकाल का हाल न सुनाओगे?

तू सुनेगी वञ्जो ! क्या करेगी सुन कर बेटी ? तू मेरी बेटी है और मैं तेरा बूढ़ा बाप ! तेरे लिये इतना जान लेना बहुत है !!

नहीं बापू ! सुना दो मुझे वह अकाल की कहानी—वञ्जो ने मचलते हुए कहा।

धाँय—धाँय—धाँय. .!!!

गंगा-तट बन्दूक के धड़ाके से मुखरित हो गया। वञ्जो कुतूहल से झोपड़ी के बाहर चली आई।

वहाँ एक घिरा हुआ मैदान था। कई बीघों की सम-तल भूमी—जिसके चारों ओर. दस लट्ठे की चौड़ी झाड़ियों की दीवार थी—जिसमें कितने ही सिरिस, महुआ, नीम और जामुन के वृक्ष थे—जिन पर घुमची, सतावर और करञ्ज इत्यादि की लतरें झूल रही थीं। नीचे की भूमी में भटेस के चौड़े-चौड़े पत्तों की हरियाली थी। बीच-बीच में बनबेर ने भी अपनी कँटीली डालों को इन्हीं सबों से उलझा लिया था।

वह एक सघन झुरमुट था—जिसे बाहर से देख कर यह अनुमान करना कठिन था कि इसके भीतर इतना लम्बा-चौड़ा सम-तल मैदान हो सकता है।

देहात के मुक्त आकाश मे अन्धकार धीरे-धीरे फैल रहा था। अभी सूर्य की अस्त-कालीन लालिमा आकाश के उच्च प्रदेश में स्थित पतले बादलों में गुलाली आभा दे रही थी।

वञ्जो. बन्दूक का शब्द सुन कर, बाहर तो आई, परन्

वह एक टक उसी गुलाबी आकाश को देखने लगी। काली रेखाओं सी भय-भीत कराकुल पक्षियों की पंक्तियाँ 'करर-कर्र' करती हुई सन्ध्या की उस शान्त चित्रपटी के अनुराग पर कालिमा फेरने लगी थीं।

हाय राम! इन काँटों में—कहाँ आ फँसा!

वञ्जो कान लगा कर सुनने लगी।

फिर किसी ने कहा—नीचे करारे की ओर उतरने में तो गिर जाने का डर है, इधर ये काँटेदार झाड़ियाँ! अब किधर जाऊँ?

वञ्जो समझ गई कि कोई शिकार खेलने वालों में से इधर आ गया है। उसके हृदय में विरक्ति हुई—उँह, शिकारी पर दया दिखाने की क्या आवश्यकता? भटकने दो।

वह घूम कर उसी मैदान में बैठी हुई एक श्यामा गौ को देखने लगी। बड़ा मधुर शब्द सुन पड़ा—बीबीजी! आप कहाँ हैं?

अब वञ्जो को बाध्य हो कर उधर जाना पड़ा। पहले काँटों में फँसने वाले व्यक्ति ने चिल्ला कर कहा—वहीं रहिए, इधर नहीं [illegible]! उसी नीम के नीचे ठहरिए, मैं आता हूँ, इधर बड़ा ऊँचा नीचा है।

तुम रहो! यहाँ तो मिट्टी काट कर बनी अच्छी सीढ़ियाँ बनी हैं, मैं तो उन्हीं से ऊपर आती हूँ।—रमणी के कोमल कण्ठ से स्वर सुन पड़ा।

अँधेरे में भी ठीक-ठीक उसी सीढ़ी के पास जाकर खड़ी हो गई, जिसके पास नीम का वृक्ष था।

उसने देखा कि चौबेजी बेतरह गिरे हैं। उनके घुटने में चोट आ गई है, वह स्वयं नहीं उठ सकते।

सुकुमारी सुन्दरी के बूते के बाहर की यह बात थी। बञ्जो ने भी हाथ लगा दिया। चौबेजी किसी तरह काँखते हुए उठे।

अन्धकार के साथ-साथ सरदी बढ़ने लगी थी। बञ्जो की सहायता से सुन्दरी, चौबेजी को, लिवा ले चली; पर कहाँ? यह तो बञ्जो ही जानती थी।

झोपड़ी में बुड्ढा पुकार रहा था—बञ्जो! बञ्जो!! बड़ी पगली है। कहाँ घूम रही है? बञ्जो, चली आ!

झुरमुट में घुसते हुए चौबेजी तो कराहते थे; पर सुन्दरी उस वन-विहंगिनी की ओर आँखें गड़ा कर देख रही थी और अभ्यास के अनुसार धन्यवाद भी दे रही थी।

दूर से किसी की पुकार सुन पड़ी—शैला! शैला!!

ये तीनों झाड़ियों की दीवार पार कर के, मैदान में आ गए थे। बञ्जो के सहारे चौबेजी को छोड़ कर शैला फिरहरी की तरह घूम पड़ी। वह नीम के नीचे खड़ी होकर कहने लगी—इसी सीढ़ी से इन्द्रदेव—! बहुत ठीक सीढ़ी है। हाँ, सँभाल कर चले आओ। चौबेजी का तो घुटना ही टूट गया है! हाँ, ठीक है, चले आओ। कहीं-कहीं जड़ें बुरी तरह से निकल आई हैं, उन्हें बचा कर आना।

नीचे से इन्द्रदेव ने कहा—सच कहना शैला। क्या चौबे का घुटना टूट गया? ओहो, तो कैसे वह इतनी दूर चलेगा! नहीं-नहीं, तुम हँसी करती हो!

ऊपर आकर देख लो, नहीं भी टूट सकता है!

नहीं भी टूट सकता है? वाह! यह एक ही रही। अच्छा, लो, मैं आ ही पहुँचा।

एक लम्बा-सा युवक, कन्धे पर बन्दूक रखे, ऊपर चढ़ रहा था। शैला नीम के नीचे खड़ी, गंगा के करारे की ओर झाँक रही थी—वह इन्द्रदेव को सावधान करती थी—ठोकरों से और ठीक मार्ग से।

तब तक उस युवक ने हाथ बढ़ाया। दो हाथ मिले!

नीम के नीचे खड़े हो कर, इन्द्रदेव ने शैला के कोमल हाथों को दबा कर कहा—करारे की मिट्टी काट कर देहातियों ने काम-चलाऊ सीढ़ियाँ अच्छी बना ली हैं। शैला! कितना सुन्दर दृश्य है! नीचे धीरे-धीरे गंगा बह रही है, अन्धकार से मिली हुई उस पार के वृक्षों की श्रेणी क्षितिज की कोर में गाढ़ी कालिमा की बेल बना रही है, और ऊपर......

पहले चल कर चौबेजी को देख लो, फिर दृश्य देखना। —बीच ही में रोक कर शैला ने कहा।

अरे हाँ, वह तो मैं भूल ही गया था। चलो, किधर चलूँ? यहाँ तो तुम्हीं पथ-प्रदर्शक हो।—कह कर इन्द्रदेव हँस पड़े।

दोनों झोपड़ियों के भीतर घुसे। एक अपरिचित बालिका

के सहारे चौबेजी को कराहते देख कर इन्द्रदेव ने कहा—तो क्या सचमुच मैं ये मान लूँ कि तुम्हारा घुटना टूट गया! मैं इस पर कभी विश्वास नहीं कर सकता। चौबे! तुम्हारे घुटने 'टूटने वाली हड्डी' के बने ही नहीं।

सरकार! यही तो मैं भी सोच कर चलने का प्रयत्न कर रहा हूँ। परन्तु......आह! बड़ी पीड़ा है, मोच आ गई होगी; तो भी इस छोकरी के सहारे थोड़ी दूर चल सकूँगा। चलिये।—चौबेजी ने कहा।

अभी तक बञो से किसी ने न पूछा था कि तू कौन है, कहाँ रहती है, या हम लोगों को कहाँ लिवा जा रही है!

बञो ने स्वयं ही कहा—पास ही झोपड़ी है। आप लोग वहीं तक चलिए, फिर जैसी इच्छा।

सब बञो के साथ मैदान के उस छोर पर जलने वाले दीपक के सम्मुख चले, जहाँ से "बञो! बञो" कह कर कोई पुकार रहा था। बञो ने कहा—आती हूँ।

झोपड़ी के दूसरे भाग के पास पहुँच कर बञो क्षण-भर के लिये रुकी। चौबेजी को छप्पर के नीचे पड़ी हुई एक खाट पर बैठने का संकेत करके वह घूमी ही थी कि बुड्ढे ने कहा—बञो! कहाँ है रे? अकाल की कहानी और अपनी कथा न सुनेगी? मुझे नींद आ रही है।

'आ गई'—कहती हुई बञो भीतर चली गई। बगल के छप्पर के नीचे इन्द्रदेव और शैला खड़े रहे। चौबेजी खाट

पर बैठे थे. किन्तु समाने की व्याकुलता क्या करे। एक लड़की के आश्रय में आकर इन्द्रदेव भी चकित सोच रहे थे—कहीं यह बुड्ढा हम लोगों के यहाँ आने से चिढ़ेगा तो नहीं ?

सब चुपचाप थे।

बुड्ढे ने कहा—कहाँ रही तू बञ्जो ?

एक आदमी को चोट लगी थी, उसी..... ...

तो—तू क्या कर रही थी ?

वह चल नहीं सकता था, उसी को सहारा देकर ...

मरा नहीं, बच गया। गोली चलाने का—शिकार खेलने का—आनन्द नहीं मिला ! अच्छा, तो तू उनका उपकार करने गई थी। पगली ! यह मैं मानता हूँ कि मनुष्य को कभी-कभी अनिच्छा से भी कोई काम कर लेना ही पड़ता है; पर ·· नहीं ··जान बूझ कर किसी उपकार-अपकार के चक्र में न पड़ना ही अच्छा है। बञ्जो ! पल भर की भावुकता मनुष्य के जीवन को कहाँ से कहाँ खींच ले जाती है, यह तू अभी नहीं जानती। बैठ, ऐसी ही भावुकता लेकर मुझे जो कुछ भोगना पड़ा है, वही सुनाने के लिए तो मैं तुझे खोज रहा था !

बापू .

क्या है रे ! बैठती क्यों नहीं ?

वे लोग यहाँ आ गए हैं...

ओहो ! तू बड़ी पुण्यात्मा है तो फिर लिवा ही आई है,

तो उन्हें विठा दे छप्पर में—और दूसरी जगह ही कौन है! और बन्नो! अतिथि को बैठा ही देने से काम नहीं चल जाता। दो चार टिक्कर सेंकने की भी......समझी?

नहीं-नहीं, इसकी आवश्यकता नहीं—कहते हुए इन्द्रदेव बुड्ढे के सामने आ गए। बुड्ढे ने धुँधले प्रकाश में देखा—पूरा साहबी ठाट! उसने कहा—आप साहब यहाँ......

तुम घबराओ मत, हम लोगों को छावनी तक पहुँच जाने पर किसी बात की असुविधा न रहेगी। चौबेजी को चोट आ गई है, वह सवारी न मिलने पर रात-भर यहाँ पड़े रहेंगे। सबेरे देखा जायगा। छावनी की पगडंडी पा जाने पर हम लोग स्वयं चले जायँगे। कोई......

इन्द्रदेव को रोक कर बुड्ढे ने कहा—आप धामपुर की छावनी पर जाना चाहते हैं? जमींदार के मेहमान हैं न! बन्नो! मधुवा को बुला दे, नहीं तू ही इन लोगों को बजरिया के बाहर उत्तर वाली पगडंडी पर पहुँचा दे। मधुवा!! ओ रे मधुवा!—चौबेजी को रहने दीजिए, कोई चिन्ता नहीं।

बन्नो ने कहा—रहने दो बापू! मैं ही जाती हूँ।

शैला ने चौबेजी को कहा—तो आप यहीं रहिए, मैं जाकर सवारी भेजती हूँ।

रात को झंझट बढ़ाने की आवश्यकता नहीं, बटुए में जल-पान का सामान है, कम्बल भी है। मैं इसी जगह रात

भर में इसे सेंक-सॉक कर ठीक कर लूंगा। आप लोग जाइये—चौबे ने कहा।

इन्द्रदेव ने पुकारा—शैला! आओ, हम लोग चलें।

शैला उसी झोपड़ी में आई। वहीं से बाहर निकलने का पथ था। वञ्जो के पीछे दोनों झोपड़ी से निकले।

लेटे हुए बुड्ढे ने देखा—इतनी गोरी, इतनी सुन्दर, लक्ष्मी-सी स्त्री इस जंगल-उजाड़ में कहाँ! फिर सोचने लगा—चलो, दो तो गये। यदि वे भी यहीं रहते, तो खाट-कम्बल और सब सामान कहाँ से जुटता। अच्छा चौबेजी हैं तो ब्राह्मण, उनको कुछ अड़चन न होगी, पर इन साहबी ठाट के लोगों के लिए मेरी झोपड़ी में कहाँ...ऊँह! गये, चलो, अच्छा हुआ। वञ्जो आ जाय, तो उसकी चोट को तेल लगा कर सेंक दे।

बुड्ढे को फिर खाँसी आने लगी। वह खाँसता हुआ इधर के विचारों से छुट्टी पाने की चेष्टा करने लगा।

उधर चौबेजी गोरसी में सुलगते हुए कंडों पर हाथ गरम करके घुटना सेंक रहे थे। इतने में वञ्जो मधुवा के साथ लौट आई।

बापू! जो आए थे, जिन्हें मैं पहुँचाने गई थी, वही तो धामपुर के जमींदार हैं। लालटेन लेकर कई नौकर-चाकर उन्हें खोज रहे थे। पगडंडी पर ही उन लोगों से भेंट हुई। मधुवा के साथ मैं भी लौट आई।

एक साँस में वञ्जो कहने को तो कह गई, पर बुड्ढे की समझ में कुछ न आया। उसने कहा—मधुवा! उस शीशी में

जो जड़ी का तेल है, उसे लगा कर ब्राह्मण का घुटना सेंक दे, उसे चोट आ गई है।

मधुवा तेल लेकर घुटना सेंकने चला।

बञ्जो पुआल में कम्बल लेकर घुसी। कुछ पुआल और कुछ कम्बल से गले तक शरीर ढँक कर वह सोने का अभिनय करने लगी। पलकों पर ठण्ड लगने से बीच-बीच में वह आँख खोलने-मूँदने का खिलवाड़ कर रही थी। जब आँखें बन्द रहतीं, तब एक गोरा-गोरा मुँह—करुणा की मिठास से भरा हुआ गोल-मटोल नन्हा सा मुँह—उसके सामने हँसने लगता। उसमें ममता का आकर्षण था। आँख खुलने पर वही पुरानी झोपड़ी की छाजन! अत्यन्त विरोधी दृश्य!! दोनों ने उसके कुतूहल-पूर्ण हृदय के साथ छेड़-छाड़ की किन्तु विजय हुई आँख बन्द करने की। शैला के संगीत के समान सुन्दर शब्द उसकी हृत्तन्त्री में झनझना उठे! शैला के समीप होने की—उसके हृदय में स्थान पाने की—बलवती वासना बञ्जो के मन में जगी। वह सोते-सोते स्वप्न देखने लगी। स्वप्न देखते-देखते शैला के साथ खेलने लगी।

मधुवा से तेल मलवाते हुए चौबेजी ने पूछा—क्यों जी! तुम यहाँ कहाँ रहते हो? क्या काम करते हो? क्या तुम इस बुड्ढे के यहाँ नौकर हो? उसके लड़के तो नहीं मालूम पड़ते?

परन्तु मधुवा चुप था।

कन्या से आपका व्याह हुए दो-चार दिनों से अधिक नहीं हुआ होगा। अभी नवोढा रानी के हाथ का कंकण हाथ ही की शोभा वढ़ा रहा है। अभी कजरारी आँखें अपने ही रंग में रँगी हुई हैं। पीत-पुनीत चुनरी भी अभी धुमिल नहीं होने पाई है। सोहाग का सिन्दूर दुहराया भी नहीं गया है। फूलों की सेज को छोड़ कर और कहीं गहनों की झनकार भी नहीं सुन पड़ी है। अभी पायल की रुन-झुन ने महल के एक कोने में ही वीन वजाई है। अभी घने पल्लवों की आड़ में ही कोयल कुहुकती है। अभी कमल-सरीखे कोमल हाथ पूजनीय चरणों पर चन्दन ही भर चढ़ा पाये हैं। अभी संकोच के सुनहरे सींकड़ में वँधे हुए नेत्र लाज ही के लोभ में पड़े हुए हैं। अभी चाँद वादल ही के अन्दर छिपा हुआ है। किन्तु नहीं, आज तो उदयपुर की उदित-विदित शोभा देखने के लिए घन-पटल में से अभी-अभी वह प्रकट हुआ है।

४

चूड़ावतजी, हाथ में लगाम लिये ही, वादल के जाल से निकले हुए उस पूर्णचन्द्र पर टकटकी लगाये खड़े हैं। जाली-दार खिड़की से छन-छन कर आने वाली चाँद की चटकीली चाँदनी ने चूड़ावत-चकोर को आपे से वाहर कर दिया है। हाथ की लगाम हाथ ही में है, मन की लगाम खिड़की में है। नये प्रेम-पाश का प्रवल वन्धन प्रतिज्ञा-पालन का पुराना वन्धन ढीला कर रहा है। चूड़ावतजी का चित्त चंचल हो

चला। वे चटपट चन्द्रभवन की ओर चल पड़े। वे यद्यपि चिन्ता में चूर हैं; पर चन्द्र-दर्शन की चोखी चाट लग रही है। वे संगमर्मरी सीढ़ियों के सहारे चन्द्र-भवन पर चढ़ चुके, पर जीभ का जकड़ जाना जी को जला रहा है।

५

हृदय-हारिणी हाड़ी-रानी भी, हिम्मत की हद करके, हल्की आवाज़ से, बोलीं—"प्राणनाथ! मन मलिन क्यों है? मुखारविन्द मुर्झाया क्यों है? न तन में तेज ही देखती हूँ, न शरीर में शान्ति ही! ऐसा क्यों? भला उत्साह की जगह उद्वेग का क्या काम है? उमंग में उदासीनता कहाँ से चू पड़ी? क्या कुछ शोक-संवाद सुना है? जब कि सभी सामन्त-सूरमा, संग्राम के लिए, सज-धजकर आप ही की आज्ञा की आशा में अँटके हुए हैं, तब क्या कारण है कि आप व्यर्थ व्याकुल हो उठे हैं? उदयपुर के बाजे गाजे के तुमुल शब्द से दिग्दिगन्त डोल रहा है! वीरों के हुंकार से कायरों के कलेजे भी कड़े हो रहे हैं। भला ऐसे अवसर पर आपका चेहरा क्यों उतरा हुआ है? लड़ाई की ललकार सुन कर लँगड़े-लूलों को भी लड़ने-भिड़ने की लालसा लग जाती है फिर आप तो क्षात्र तेज से भरे हुए क्षत्रिय हैं। प्राणनाथ! शूरों को शिथिलता नहीं शोभती। क्षत्रिय का छोटा-मोटा छोकरा भी क्षण-भर में शत्रुओं को छील-छाल कर

छुट्टी कर देता है; परन्तु आप प्रसिद्ध पराक्रमी होकर पस्त क्यों पड़ गये ?"

चूड़ावतजी चन्द्रमा में चपला की सी चमक-दमक देख चकित हो कर बोले—"प्राणप्यारी ! रूपनगर के राठौर-वंश की राजकुमारी को दिल्ली का बादशाह बलात्कार से ब्याहने आ रहा है। इसके पहले ही वह राज-कन्या हमारे माननीय राणा-बहादुर को वर चुकी है। कल पौ फूटते ही राणाजी रूपनगर की राह लेंगे। हम बीच ही में बादशाह की राह रोकने के लिए रण-यात्रा कर रहे हैं। शूर-सामन्तों की सैंकड़ों सजीली सेनाएँ साथ में हैं सही; परन्तु हम लड़ाई से अपने लौटने का लक्षण नहीं देख रहे हैं। फिर कभी भर-नज़र तुम्हारे चन्द्र-वदन को देख पाने की आशा नहीं है। इस बार घनघोर युद्ध छिड़ेगा। हम लोग मन मना कर जी-जान से लड़ेंगे। हज़ारों हमले हड़प जायँगे। समुद्र-सी सेना भी मथ डालेंगे। हिम्मत हर्गिज़ न हारेंगे। फ़ौलाद-सी फौज को भी फ़ौरन फाड़ डालेंगे। हिम्मत तो हज़ारगुनी है; मगर मुग़लों की मुठभेड़ में महज़ मुट्ठी-भर मेवाड़ी वीर क्या कर सकेंगे ? तो भी हमारे ढलैत, कमनैत और बानैत ढाढ़स बाँध कर डट जायँगे। हम सत्य की रक्षा के लिए पुर्जे-पुर्जे कट जायँगे। प्राणेश्वरी ! किन्तु हमको केवल तुम्हारी ही चिन्ता बेढब सता रही है। अभी चार ही दिन हुए कि तुम-सी सुहागिन दुलहिन हमारे हृदय में उजेला करने आई है।

अभी किसी दिन तुम्हें इस तुच्छ संसार की क्षणिक छाया में विश्राम करने का भी अवसर नहीं मिला है ! किस्मत की करामात है, एक ही गोटी में सारा खेल मात है ! किसे मालूम था कि एक तुम-सी अनूप-रूपा कोमलाङ्गी के भाग्य में ऐसा भयङ्कर लेख होगा ! अचानक रङ्ग में भङ्ग होने की आशा कभी सपने में भी न थी ! किन्तु ऐसे ही अवसरों पर हम क्षत्रियों की परीक्षा हुआ करती है। संसार के सारे सुखों की तो बात ही क्या, प्राणों की भी आहुति दे कर क्षत्रियों को अपने कर्त्तव्य का पालन करना पड़ता है।"

हाड़ी-रानी, हृदय पर हाथ धर कर, बोलीं—"प्राणनाथ ! सत्य और न्याय की रक्षा के लिए लड़ने जाने के समय सहज-सुलभ सांसारिक सुखों की बुरी वासना को मन मे घर करने देना आपके समान प्रतापी क्षत्रिय-कुमार का काम नहीं है। आप आपात-मनोहर सुख के फन्दे में फँस कर अपना जातीय कर्त्तव्य मत भूलिये। सब प्रकार की वासनाओं और व्यसनों से विरक्त हो कर इस समय केवल वीरत्व धारण कीजिये। मेरा मोह-छोह छोड़ दीजिये। भारत की महिलाएँ स्वार्थ के लिए सत्य का संहार करना नहीं चाहतीं। आर्य-महिलाओं के लिए समस्त ससार की सारी सम्पत्तियों से बढ़ कर—

'सतीत्व ही अमूल्य धन है !'

जिस दिन मेरे तुच्छ सांसारिक सुखों की भोग-लालसा

के कारण मेरी एक प्यारी बहन का सतीत्व-रत्न लुट जायगा, उसी दिन मेरा जातीय गौरव अरवली शिखर के ऊँचे मस्तक से गिर कर चकनाचूर हो जायगा। यदि नव-विवाहिता उर्मिला देवी वीर-शिरोमणि लक्ष्मण को सांसारिक सुखोप भोग के लिए कर्त्तव्य-पालन से विमुख कर दिये होतीं, तो क्या कभी लखनलाल को अक्षय्य यश लूटने का अवसर मिलता? वीर-वधूटी उत्तरा देवी यदि अभिमन्यु को भोग विलास के भयङ्कर बन्धन में जकड़ दिये होतीं, तो क्या वे वीर-दुर्लभ गति को पाकर भारतीय क्षत्रिय-नन्दनों में अग्र-गण्य होते? मैं समझती हूँ कि यदि तारा की बात मान कर बालि भी, घर के कोने में मुँह छिपा कर, डरपोक जैसा छिपा हुआ रह गया होता, तो उसे वैसी पवित्र मृत्यु कदापि प्राप्त न होती। सती-शिरोमणि सीता देवी की सतीत्व-रक्षा के लिए जरा जर्जर जटायु ने अपनी जान तक गँवाई ज़रूर; लेकिन उसने जो कीर्त्ति कमाई और बधाई पाई, सो आज तक किसी कवि की कल्पना में भी नहीं समाई। वीरों का यह रक्त-मांस का शरीर अमर नहीं होता, बल्कि उनका उज्ज्वल-यशोरूपी शरीर ही अमर होता है। विजय-कीर्त्ति ही उनकी अभीष्ट-दायिनी कल्प-लतिका है। दुष्ट शत्रु का रक्त ही उनके लिए शुद्ध गंगा-जल से भी बढ़ कर है। सतीत्व के अस्तित्व के लिए रण-भूमि में व्रज-मंडल की-सी होली मचाने वाली खड्ग-देवी ही उनकी सती सह-गामिनी

है। आप सच्चे राजपूत वीर हैं; इसलिए सोत्साह जाइये और जाकर एकाग्र मन से अपना कर्त्तव्य-पालन कीजिये। मैं भी यदि सच्ची राजपूत-कन्या हूँगी, तो शीघ्र ही आपसे स्वर्ग में जा मिलूँगी। अब विशेष विलम्ब करने का समय नहीं है।"

चूड़ावतजी का चित्त हाड़ी-रानी के हृदय-रूपी हीरे को परख कर पुलकित हो उठा। चूड़ावतजी आप से आप कह उठे—"धन्य देवि! तुम्हारे विराजने के लिए वस्तुतः हमारे हृदय में बहुत ही ऊँचा सिंहासन है। अच्छा, अब हम मर कर अमर होने जाते हैं। देखना, प्यारी! कहीं ऐसा न हो कि—"( कंठ गद्‌गद हो गया )

रानी ने कहा—"प्राणप्यारे! इतना अवश्य याद रखिये कि छोटा बच्चा चाहे आसमान छू ले, सीपी में सम्भवतः समुद्र समा जाय, हिमालय हिल जाय तो हिल जाय, पर भारत की सती देवियाँ अपने प्रण से तनिक भी नहीं डिग सकतीं।"

चूड़ावतजी प्रेम-भरी नज़रों से एकटक रानी की ओर देखते-देखते सीढ़ी से उतर पड़े। रानी सतृष्ण नेत्रों से ताकती रह गई।

६

चूड़ावतजी घोड़े पर सवार हो रहे हैं। डंके की आवाज घनी होती जा रही है। घोड़े फड़क-फड़क कर अड़ रहे हैं।

केशों वाला मुण्ड लिये हुए रानी का धड़, विलास-मन्दिर के संगमर्मरी फर्श को सती रक्त से सींच कर पवित्र करता हुआ, धड़ाम से धरती पर गिर पड़ा !

बेचारे भय-चकित सेवक ने यह 'दृढ़ आशा और अटल विश्वास का चिह्न' कॉपते हुए हाथों से ले जाकर चूड़ावतजी को दे दिया। चूड़ावतजी प्रेम से पागल हो उठे। वे अपूर्व आनन्द में मस्त होकर ऐसे फूल गये कि कवच की कड़ियॉ धड़ाधड़ कड़क उठीं।

सुगन्धों से सींचे हुए मुलायम बालों के गुच्छे को दो हिस्सों में चीर कर चूड़ावतजी ने, उस सौभाग्य-सिन्दूर से भरे हुए सुन्दर शीश को, गले में लटका लिया। मालूम हुआ, मानो स्वयं भगवान् रुद्रदेव भीषण भेष धारण कर शत्रु का नाश करने जा रहे हैं। सबको भ्रम हो उठा कि गले में काले नाग लिपट रहे हैं या लम्बी-लम्बी सटकार लटें हैं। अटारियों पर से सुन्दरियों ने भर-भर अञ्जली फूलों की वर्षा की, मानो स्वर्ग की मानिनी अप्सराओं ने पुष्प-वृष्टि की। बाजे-गाजे के शब्दों के साथ घहराता हुआ, आकाश फाड़ने वाला, एक गम्भीर स्वर चारों ओर से गूंज उठा—

'धन्य मुण्डमाल !'

ख़ैर, उनके एक पुत्री थी, जो अब तक मौजूद है। उसका नाम—जाने दीजिये, सुन कर क्या कीजियेगा ? मैं बताऊँगा भी नहीं ! हाँ, चूँकि उसके सम्बन्ध की बातें बताने में कुछ सुगमता होगी, इसलिए उसका एक कल्पित नाम रख लेना ज़रूरी है। मान लीजिए, उसका नाम है 'भगजोगनी'। देहात की घटना है, इसलिए देहाती नाम ही अच्छा होगा। ख़ैर, आगे बढ़िये—

मुंशीजी के बड़े भाई पुलिस-दारोगा थे—उस ज़माने में जब कि अँगरेज़ी जानने वालों की संख्या उतनी ही थी, जितनी आज धर्म-शास्त्रों के मर्म जानने वालों की है; इसलिए उर्दू पढ़े-लिखे लोग ही ऊँचे-ऊँचे ओहदे पाते थे। दारोगाजी ने आठ-दस पैसे का करीमा-खालिकबारी पढ़ कर जितना रुपया कमाया था, उतना आज कालेज और अदालत की लाइब्रेरियाँ चाट कर वकील होने वाले भी नहीं कमाते।

लेकिन दारोगाजी ने जो कुछ कमाया, अपनी ज़िन्दगी में ही फूँक-ताप डाला। उनके मरने के बाद सिर्फ़ उनकी एक घोड़ी बची थी, जो थी तो सिर्फ़ सात रुपये की; मगर कान काटती थी तुर्की घोड़ों के—कम्बख़्त बारूद की पुड़िया थी ! बड़े-बड़े अँगरेज़-अफ़सर उस पर दाँत गड़ाये रह गये; मगर दारोगाजी ने सबको निबुआ-नोन चटा दिया। इसी घोड़ी की बदौलत उनकी तरक्की रुकी रह गई; लेकिन आख़िरी दम तक वे अफसरों के घपले में न आये—न आये। हर

गुज़ारने लगे। लोग साफ़ कहने लग गये—थानेदारी की कमाई और फूस का तापना दोनों बराबर है।

गरीबों की खाल उतारने वाले मुंशीजी को गाँव-जवार के लोग भी अपनी नज़रों से उतारने लगे। जो मुंशीजी चुल्लू के चुल्लू इत्र लेकर अपनी पोशाकों में मला करते थे, उन्हीं को अब अपनी रूखी-सूखी देह में लगाने के लिए चुल्लू भर कड़वा तेल मिलना भी मुश्किल हो गया। शायद किस्मत की फटी चादर का कोई रफूगर नहीं है!

लेकिन ज़रा किस्मत की दोहरी मार तो देखिये। दारोगा जी के ज़माने में मुंशीजी के चार-पाँच लड़के हुए; पर सब के सब सुबह के चिराग़ हो गये। जब बेचारे की पाँचों उँगलियाँ घी में थीं, तब तो कोई खाने वाला न रहा, और जब दोनों टाँगें दरिद्रता के दलदल में आ फँसीं और ऊपर से बुढ़ापा भी कन्धे दबाने लगा, तब कोढ़ में खाज की तरह एक लड़की पैदा हो गई! और तारीफ़ यह कि मुंशीजी की बदकिस्मती भी दारोगाजी की घोड़ी से कुछ कम स्थावर नहीं थी!

सच पूछिये तो इस तिलक-दहेज के ज़माने में लड़की पैदा करना ही बड़ी भारी मूर्खता है। किन्तु युग-धर्म की क्या दवा है? इस युग में अबला ही प्रबला हो रही हैं। पुरुष-दल को स्त्रीत्व खदेड़े जा रहा है। बेचारे मुंशीजी का क्या दोष? जब घी और गरम मसाले उड़ाते थे, तब तो हमेशा लड़का ही

जाती है, तो इसकी डीठ लग जाने के भय से घर-वालियाँ दुरदुराने लगती हैं ! कहाँ तक अपनी मुसीबतों का बयान करूँ, भाई साहब ! किसी की दी हुई मुट्ठी-भर भीख लेने के लिए इसके तन पर फटा आँचल भी तो नहीं है ! इसकी छोटी अञ्जलियों में ही जो कुछ अँट जाता है, उसी से किसी तरह पेट की जलन बुझा लेती है ! कभी-कभी एक-आध फंका चना-चबेना मेरे लिए भी लेती आती है; उस समय हृदय दो टूक हो जाता है।

"किसी दिन, दिन-भर घर घर घूम कर जब शाम को मेरे पास आकर धीमी आवाज़ से कहती है कि बाबूजी ! भूख लगी है—कुछ हो तो खाने को दो; उस वक़्त, आपसे ईमानन कहता हूँ, जी चाहता है कि गल-फाँसी लगा कर मर जाऊँ या किसी कुएँ-तालाब में डूब मरूँ। मगर फिर सोचता हूँ कि मेरे सिवा इसकी खोज-खबर लेने वाला इस दुनिया में अब है ही कौन ! आज अगर इसकी माँ भी ज़िन्दा होती, तो कूट-पीस कर इसके लिए मुट्ठी-भर चून जुटाती—किसी कदर इसकी परवरिश कर ही ले जाती; और अगर कहीं आज मेरे बड़े भाई साहब जीवित होते, तो गुलाब के फूल-सी ऐसी लड़की को हथेली का फूल बनाये रहते। ज़रूर ही किसी 'राय बहादुर' के घर में इसकी शादी करते। मैं भी उनकी अन्धा-धुन्ध कमाई पर ऐसी बेफिक्री से दिन गुज़ारता था कि आगे आने वाले इन बुरे दिनों की बिल्कुल खबर न थी।

जाती है, तो इसकी डीठ लग जाने के भय से घरवालियाँ दुरदुराने लगती हैं! कहाँ तक अपनी मुसीबतों का बयान करूँ, भाई साहब! किसी की दी हुई मुट्ठी-भर भीख लेने के लिए इसके तन पर फटा आँचल भी तो नहीं है! इसकी छोटी अञ्जलियों में ही जो कुछ अँट जाता है, उसी से किसी तरह पेट की जलन बुझा लेती है! कभी-कभी एक-आध फंका चना-चबेना मेरे लिए भी लेती आती है; उस समय हृदय दो टूक हो जाता है।

"किसी दिन, दिन-भर घर घर घूम कर जब शाम को मेरे पास आकर धीमी आवाज़ से कहती है कि बाबूजी! भूख लगी है—कुछ हो तो खाने को दो; उस वक़्त, आपसे ईमानन कहता हूँ, जी चाहता है कि गल-फाँसी लगा कर मर जाऊँ या किसी कुएँ-तालाब में डूब मरूँ। मगर फिर सोचता हूँ कि मेरे सिवा इसकी खोज-खबर लेने वाला इस दुनिया में अब है ही कौन! आज अगर इसकी माँ भी ज़िन्दा होती, तो कूट-पीस कर इसके लिए मुट्ठी-भर चून जुटाती—किसी कदर इसकी परवरिश कर ही ले जाती, और अगर कहीं आज मेरे बड़े भाई साहब जीवित होते, तो गुलाब के फूल-सी ऐसी लड़की को हथेली का फूल बनाये रहते। जरूर ही किसी 'राय बहादुर' के घर में इसकी शादी करते। मैं भी उनकी अन्धा-धुन्ध कमाई पर ऐसी बेफिक्री से दिन गुजारता था कि आगे आने वाले इन बुरे दिनों की बिल्कुल खबर न थी।

जाती है, तो इसकी डीठ लग जाने के भय से घर-वालियाँ दुरदुराने लगती हैं! कहाँ तक अपनी मुसीबतों का बयान करूँ, भाई साहब! किसी की दी हुई मुट्ठी-भर भीख लेने के लिए इसके तन पर फटा आँचल भी तो नहीं है! इसकी छोटी अञ्जलियों में ही जो कुछ अँट जाता है, उसी से किसी तरह पेट की जलन बुझा लेती है! कभी-कभी एक-आध फंका चना-चबेना मेरे लिए भी लेती आती है; उस समय हृदय दो टूक हो जाता है।

"किसी दिन, दिन-भर घर घर घूम कर जब शाम को मेरे पास आकर धीमी आवाज़ से कहती है कि बाबूजी! भूख लगी है—कुछ हो तो खाने को दो; उस वक्त, आपसे ईमानन कहता हूँ, जी चाहता है कि गल-फाँसी लगा कर मर जाऊँ या किसी कुएँ-तालाब में डूब मरूँ। मगर फिर सोचता हूँ कि मेरे सिवा इसकी खोज-खबर लेने वाला इस दुनिया में अब है ही कौन! आज अगर इसकी माँ भी ज़िन्दा होती, तो कूट-पीस कर इसके लिए मुट्ठी-भर चून जुटाती—किसी कदर इसकी परवरिश कर ही ले जाती. और अगर कहीं आज मेरे बड़े भाई साहब जीवित होते, तो गुलाब के फूल-सी ऐसी लड़की को हथेली का फूल बनाये रहते। ज़रूर ही किसी 'राय बहादुर' के घर में इसकी शादी करते। मैं भी उनकी अन्धा-धुन्ध कमाई पर ऐसी बेफ़िक्री से दिन गुज़ारता था कि आगे आने वाले इन बुरे दिनों की बिल्कुल खबर न थी।

जाती है, तो इसकी डीठ लग जाने के भय से घर-वालियाँ दुरदुराने लगती हैं! कहाँ तक अपनी मुसीबतों का बयान करूँ, भाई साहब! किसी की दी हुई मुट्ठी-भर भीख लेने के लिए इसके तन पर फटा आँचल भी तो नहीं है! इसकी छोटी अञ्जलियों में ही जो कुछ अँट जाता है, उसी से किसी तरह पेट की जलन बुझा लेती है! कभी-कभी एक-आध फंका चना-चबेना मेरे लिए भी लेती आती है; उस समय हृदय दो टूक हो जाता है।

"किसी दिन, दिन-भर घर घर घूम कर जब शाम को मेरे पास आकर धीमी आवाज़ से कहती है कि बाबूजी! भूख लगी है—कुछ हो तो खाने को दो; उस वक्त, आपसे ईमानन कहता हूँ, जी चाहता है कि गल-फाँसी लगा कर मर जाऊँ या किसी कुएँ-तालाब में डूब मरूँ। मगर फिर सोचता हूँ कि मेरे सिवा इसकी खोज-खबर लेने वाला इस दुनिया में अब है ही कौन! आज अगर इसकी माँ भी ज़िन्दा होती, तो कूट-पीस कर इसके लिए मुट्ठी-भर चून जुटाती—किसी कदर इसकी परवरिश कर ही ले जाती; और अगर कहीं आज मेरे बड़े भाई साहब जीवित होते, तो गुलाब के फूल-सी ऐसी लड़की को हथेली का फूल बनाये रहते। ज़रूर ही किसी 'राय बहादुर' के घर में इसकी शादी करते। मैं भी उनकी अन्धा-धुन्ध कमाई पर ऐसी बेफ़िक्री से दिन गुज़ारता था कि आगे आने वाले इन बुरे दिनों की बिल्कुल खबर न थी।

अपने जीवन को सफल करें: किन्तु सबने मेरी बात अनसुनी कर दी। ऐसे-ऐसे लोगों ने भी आनाकानी की, जो समाज-सुधार-सम्बन्धी विषयों पर बड़े शान-गुमान से लेखनी चलाते हैं। यहाँ तक कि प्रौढावस्था के रँड़ुए मित्र भी राज़ी न हुए!

आखिर वही महाशय डोला काढ़ कर भगजोगनी को अपने घर ले गये और वहीं शादी की. कुल रस्में पूरी करके मुंशीजी को चिन्ता के दलदल से उबारा।

बेचारे मुंशीजी की छाती से पत्थर का बोझ तो उतारा, मगर घर में कोई-पानी देने वाला भी न रह गया। बुढ़ापे की लकड़ी जाती रही. देह लच गई। साल पूरा होते-होते अचानक टन बोल गये। गाँव वालों ने गले में घड़ा बाँध कर नदी मे डुबा दिया।

× × × × ×

भगजोगनी जीती है। आज वह पूर्ण युवती है। उसका शरीर भरा-पूरा और फूला-फला है। शोक है कि उसका सुहाग उसे बिलपती छोड़ कर इस संसार से किनारा कर गया! हा भगजोगनी!

——.०——

शरीर का बनाव सभी भारतीय । इसे आप न सुन्दरी कह सकते हैं, न कुरूप, न काली, न गोरी। यदि आप स्त्रियों के विषय में काले-गोरे का प्रश्न उठावें भी, तो गृहिणीजी को इससे कुछ दुःख या प्रसन्नता नहीं होती । वे जैसी हैं, वैसी ही रहना पसन्द करती हैं। उन्हें अपनी स्थिति से पूर्ण संतोष है। हो सकता है, हमारे नेताओं के कथनानुसार, कृषकों की भाँति इनके संतोष का कारण इनकी मूर्खता—अपनी स्थिति का अज्ञान—हो। पर, हम कारणों का लेखा नहीं लेते। हमारे लिए जो जैसा है, वह वैसा है। हम तो 'वर्तमानवादी' हैं। हमारी गृहिणी भी 'भूत', 'भविष्य' से वास्ता नहीं रखती। वह वर्तमान को सब प्रकार अपने हाथों में रखती है। उसका भविष्य-चिन्तन २४ घण्टे से आगे नही जाता—सो भी कब ? जब उसके पति-देव के अँगरेज़ी महीने की पहली तारीख निकट आती है तभी वह भविष्य में क्या-क्या करेगी, पहली तारीख़ को वेतन मिलने पर क्या-क्या ख़रीदेगी, किस-किस को क्या-क्या देगी आदि बातों का चिन्तन करती है। गृहिणी का 'भूत या 'विगत' सदा देहात के बूढ़ों की भाँति, दूध-पूत से भरा रहा है। 'भूत' मे गृहिणी पर क्या क्या बीता, दुःख या सुख, उसका—भारतीय इतिहास की भाँति—कोई हिसाब-किताब नहीं रहता—पर हाँ, रहती है उसकी स्मृति मधुर, सुखमय और आनन्द-दायिनी । गृहिणी को न तो कभी आप 'बीते पर पश्चात्ताप करते पावेंगे और न कभी आपको उसकी

होता है, पर, इसकी छाप क्या उस बालिका के हृदय पर नहीं पड़ती ? खेल-खेल में उसके चैतन्य-हृदय में भविष्य-जीवन और उसके चित्र की रूप-रेखा खिंच जाती है। उसका नन्हा, पर अनुभूति-शक्ति-सम्पन्न हृदय इन गुड्डे-गुड्डी के खेलों के बीच एक अपूर्व आनन्द का अनुभव करता है, वह धीरे-धीरे उसका आदी होने लगता है और हमारी भावी गृहिणी अपने भविष्य के पद को सुशोभित करने के निमित्त धीरे-धीरे उपयुक्त तथा योग्य हो जाती है।

विवाह के पश्चात् गृहिणी के जीवन का विकास आरम्भ होता है। वह अपने को ऐसे अंश में पाती है, जहाँ उसे अपने दिल के हौसले निकालने का पूरा अवसर मिलता है। और उसके हौसले ही क्या ? गुड्डे-गुड़ियों के खेल की पुनरावृत्ति ! पिता के घर वह इसे 'खेल' के रूप में करती थी। पति के घर वह इसका वास्तविक रूप में निर्वाह करती है। यही उसके सम्पूर्ण जीवन का आदर्श है, विनोद है, व्यसन है, सुख, आनन्द, सन्तोष, श्रम, अभिलाषा, कल्पना—सभी कुछ है। गृहिणी के पति तो होता है, पर वह इनके केवल दो ही उपयोग जानती है, रिझाना और उससे धनोपार्जन कराना। गृहिणी के वास्तविक जीवन में पति का चित्र केवल धनोपार्जन करने के यन्त्र के रूप में [illegible] होता है। उसको [illegible] '[illegible]' को [illegible] '[illegible]' या '[illegible]' कह सकते हैं। किन्तु [illegible]

रानी और नौकर पर उतरता है। सब अभ्यस्त हैं। सुनते हैं, मुसकराते हैं। मिसरानी सहानुभूति में दो-एक बूँद आँसू टपका देती है। उसकी विधवा आँखों में आँसुओं की कमी नहीं, और किसी वस्तु की हो तो हो!

दोपहर होने को आता है। गृहिणी भोजन करने बैठती है। कच्चा-पक्का, जला-ठण्डा, जो कुछ सामने आता है, खाती है। मिसरानी को डाँटती है। आगे से स्वयं रसोई का काम अपने ऊपर लेने की प्रतिज्ञा करती है। इतने में बच्चे फिर अपना खेल आरम्भ करते हैं। कोई गिर पड़ा है, कोई सो कर उठा है, किसी ने मुँह में काजल पोत लिया है, किसी ने मिर्चें चबा ली हैं। भोजन अभी समाप्त नहीं हुआ, पर गृहिणी उसे छोड़ कर बालकों का नाटक देखने उठ पड़ती है। यह तमाशा चार बजे तक रहता है। फिर गृहिणी अपने सारे बचकाने कुटुम्ब के साथ बाबूजी की प्रतीक्षा करती है। सोचती है, "आते ही क्षमा माँगूँगी। सवेरे खा ही नहीं सके; इस समय स्वयं अपने हाथों बना कर खिलाऊँगी।" मिसरानी की पुकार होती है। लड़के उसके सिपुर्द होते हैं। गृहिणीजी 'गृह-प्रबन्ध' में लगती हैं। जल-पान तैयार होने जा रहा है। चाय का पानी चूल्हे पर चढ़ा दिया गया। पाव रोटी काट कर रख दी गई। अँगीठी सुलग रही है। महरा बेसन फेंट रहा है। गृहिणी सोच रही है—"जल-पान चार-पाँच चीज़ों से कम क्या हो। सवेरे भी तो भर-पेट

सन्ध्या होती है। चिराग बत्ती होती है। बिछावन-उसावन होता है। बच्चों का रोना-गाना आरम्भ होता है। लोरियाँ गाई जाती हैं। झूला 'चें-चें' करता हुआ झूलता है। सारा घर घण्टे आध घण्टे में शान्त हो जाता है। गृहिणी उठती है। एक बार घर का दौरा करती है। उसके लिए कुछ न कुछ अवश्य बाकी रहता है। दफ्तर के 'क्लर्क' लोग चाहे जितना काम करें, पर 'अफ़सर' को कुछ न कुछ करने को बाक़ी रहता ही है। इसी बीच कोई श्रीमती मिलने आ पहुँचती हैं, कोई पड़ोसिन आ टपकती है। गृहिणी उनकी आव-भगत में लगती है। पान-पत्ता चलता है। बच्चों की शिकायत होती है। नौकर की तबदीली की सलाह होती है। पास-पड़ोस की बातचीत चलती है। अपनी परेशानी और आने-जाने की फ़ुरसत न मिलने की फ़रियाद होती है। श्रीमती कहती हैं, "वाह जी! आपको रात-दिन अपने बखेड़ों ही में रहने में मज़ा आता है। जब देखो, घर बैठी हैं! वही चूल्हा-चक्की, वही रसोई-पानी, वही बच्चों के पीछे परेशान! मैं तो इन बखेड़ों में नहीं पड़ती। 'बाबूजी' अपना सब देखते-भालते हैं। मुझसे यह हो भी नहीं सकता। एक दिन घर से बाहर न निकलूँ, तो मेरा खाना न हज़म हो। तबीयत ही न लगे। मैं तो जब जी मे आया, गाड़ी निकलवाई और चल पड़ी। चार दिन की ज़िन्दगी है, कुछ शौक-सिङ्गार भी तो आदमी को करना

वह सदा काम में व्यस्त रहती है, अथवा कामों के चिन्तन में व्यस्त रहती है। प्रथम तो वह अधिक बातचीत न करेगी और यदि कभी बातचीत का ढङ्ग ही हुआ तो उसकी बातें घरेलू झगड़ों से आगे न बढ़ेंगी। उसके विषय घर, लड़के, बीमारी, पूजा-पाठ आदि ही होंगे। ऐसा मालूम होता है मानो उसकी कल्पना इनके 'उस पार' जा ही नहीं सकती। आज-कल के समाज-सुधारकों को उस पर दया आती है। वे हमारी गृहिणियों को भी, किसानों की भाँति, भड़काना चाहते हैं। एक-दो भोली-भाली उनकी 'भड़ीबाज़ी' में आ भी जाती हैं, पर सन्तोष का विषय यही है कि अधिकतर गृहिणियाँ ऐसे सुधारकों की बातें अपने कानों तक भी फटकने नहीं देतीं। परम्परागत प्रथा को छोड़ना वे अधर्म, महा-पातक समझती हैं। यही कुशल है, नहीं तो हमारे देश में जैसी हुल्लड़बाजी हो रही है, वैसी ही हमारे घरों में भी होने लगती। फिर बेचारी हिन्दू सभ्यता, आर्य-संस्कृति को कहाँ ठिकाना मिलता! इन्हीं गृहिणियों के पीछे तो बेचारी ने जाकर शरण ली है।

गृहिणी का स्वभाव प्रायः तीव्र नहीं होता। उसमें आप उत्तेजना न पावेंगे। लोग भ्रम-वश उसे निर्जीव कह देते हैं। हमारा ऐसा विचार नहीं है। हम गृहिणी को शान्तिका विनयशीला, मर्यादा की रक्षा करने वाली समझते हैं। यह सब उसने एक दिन में नहीं सीखा। वैदिक काल से लिये

खुशी के समय पर आनन्द मनायेगी—सारांश यह कि जीवन की प्रत्येक छोटी-बड़ी घटना उसके भावों को विचलित करेगी. उन्हें प्रकट करेगी। यह सब क्षण-क्षण पर होता रहने पर भी वह गृहिणी के व्यक्तित्व को न छू सकेगा। उसकी आत्मा इसकी अवहेलना, असारता को मानो खूब समझती है। गीता की आवृत्ति चाहे उसने न की हो, पर उसके सार-गर्भित सिद्धान्त मानो उसके रोम-रोम में घर कर गये हैं। गृहिणी जन्म भर अपने छोटे संसार में होने वाली सारी घटनाओं को उन्हीं आँखों से—उन्हीं विचारों से—देखती है, जिनसे लड़कपन में वह गुड्डे-गुड़ियों का खेल खेलती थी। वह उस में भी, रोती थी, हँसती थी, आश्चर्य करती थी, आनन्द मनाती थी। वही अब भी करती है। तब उसे खेल समझती थी, अब इन सब व्यापारों को वह अनिवार्य समझती है। जीवन की कोई घटना उसके लिए नई नहीं, असम्भव नहीं। यह समझते हुए भी वह उन घटनाओं पर हँसती है, रोती है दुःख प्रकट करती है, प्रसन्न होती है ! आखिर यह सब क्यों ? प्रश्न हो सकता है। हमें इस प्रश्न का बहुत ठीक उत्तर मिला था,—"यदि ऐसा न किया जाय तो 'लोग' क्या कहेंगे और फिर ऐसा क्यों न हो" यह हमारी समझ में आ गया. गृहिणी पुत्र उत्पन्न करने में अनन्त दुःख पाते हुए भी क्यों आनन्द से फूली नहीं समाती ? क्यों वह बीमारी पर आवश्यकता से अधिक क्यों परेशान रहती है !

उदाहरणों से उसके अन्य भावों की अनुभूति का दिग्दर्शन कराया जा सकता है। पर, समझदार पाठकों के लिए हम एक ही यथेष्ट समझते हैं।

हमारी गृहिणियों में आत्म-सम्मान की मात्रा कम नहीं है। यदि आपने कभी भूल से उन्हें रुष्ट कर दिया, तो याद रखिए, केवल क्षमा माँगने या "मुझे दुःख है" कहने से काम न चलेगा। आप को पूरी सज़ा भुगतनी पड़ेगी, जिससे आप फिर ऐसी गलती न करें। हमारे मित्र अपना एक अनुभव सुनाते थे। उनका कथन है कि किसी दिन अपने मित्र के साथ भोजन करते समय उन्होंने उससे कह दिया कि आज तरकारी कुछ ठीक नहीं बनी। गृहिणी ओट में बैठी सुन रही थी। उसका अपमान हो गया। फिर क्या था, मित्र महोदय को कई दिन बिना नमक की तरकारी खानी पड़ी। बेचारे भले आदमी हफ्तों बाद राज़ी कर पाये।

गृहिणी अपने कामों की आलोचना नहीं सुन सकती। वह जानती है कि वह जिस रीति से उनका सम्पादन करती है, उसमें इस युग के किसी मनु-वंशज को 'मीन-मेख' निकालने का अधिकार नहीं है। जो उसे सिखाया गया है ठीक सिखाया गया है, जो वह कर रही है वह सनातन की परिपाटी है। आज-कल यदि कोई उसमें परिवर्तन करना चाहे अथवा उसकी त्रुटि निकाले तो वह धृष्टता है पूर्वजों का अनादर है, आर्य-संस्कृति हिन्दू-सभ्यता धर्म-कर्म के प्रति

तो केवल अधिकार की अभिलाषा—उसके निर्वाह की चिन्ता।

गृहिणी को आप किसी प्रकार स्वार्थ-साधन का दोषी नहीं बना सकते। वह सब से पीछे खायेगी, सब को सुला कर सोयेगी, सब से पहले उठेगी। उसे न खेल-तमाशे का व्यसन है, न कपड़े-लत्ते का शौक। उसकी न अपनी कोई विशेष रुचि है, न कोई निजी आदत। उसके हाथ मे आप हज़ारों रख दीजिए, वह अपने पर एक पैसा भी खर्च न करेगी। गहने बनवायेगी, तो इस लिए कि आगे चल कर लड़कों की बहुओं के काम आयेंगे। कपड़े खरीदेगी तो भावी बहुओं के लिए। खायेगी तो इस लिए कि बच्चे को दूध अधिक मिले। सोयेगी तो इसलिए कि बच्चा उसके सोये बिना सोता नहीं। सारांश यह कि उसका प्रत्येक कार्य दूसरों के लिए होता है। वह यहाँ तक कहती सुनी गई है कि वह जी रही है तो केवल बच्चों के छोटे होने के कारण, क्योंकि मर जाने पर उनको विमाता दुःख देगी। तात्पर्य यह कि उसका सारा जीवन परमार्थ के लिए है। 'परोपकारार्थमिद शरीरम्' का पालन यदि कोई ससार मे अक्षरश कर सकता है तो गृहिणी कर सकती है।

स्मरण आता है किसी समय इस प्रकार की चर्चा करते समय किसी मित्र ने पूछा था कि आखिर गृहिणियों को देखते ही हम कैसे पहचान सकते है। सब के लिए तो यह

वियोगी हरि जी की पहले की भाषा—"ब्रज-भाषा के साहित्य-सूर्य सूरदास के नाम से हम सभी परिचित हैं। छोटे से रुनकता गाँव के इस ब्रजवासी सन्त ने हिन्दी-भाषियों के घर-घर में श्रद्धा-भक्ति-पूर्ण एक अजर-अमर स्थान बना लिया है। महाप्रभु श्री वल्लभाचार्य के इस परम कृपा-पात्र ने 'अष्टछाप' का सर्वोच्च स्थान प्राप्त कर श्रीकृष्ण-भक्ति को हमारे हृदय में सदा के लिये बसा दिया है। सूर-सागर के रत्न महोदधि के चौदह रत्नों से कहीं अधिक कान्तिमय और बहु-मूल्य हैं। सूर के पद-रत्नों की आभा ही कुछ और है। सूर की सूक्ति-मणियों से भाषा-साहित्य अलंकृत होकर विश्व-साहित्य में सदा गौरव स्थानीय रहेगा इसमें सन्देह नहीं।"

'हरिजन-सेवक' की हिन्दी का नमूना—"हिन्दी-हिन्दुस्तानी शब्द का मैंने यहाँ इरादतन प्रयोग किया है।... इन बरसों के दरम्यान उनकी शैली में कितना अधिक अन्तर हो गया है। असल में यह दृष्टि-परिवर्तन खुद-ब-खुद तभी से व्यक्त होने लगा था। . वे समाज के मौजूदा तअस्सुबों पर कटाक्ष तो करते थे, पर उन पर कभी सीधा हमला नहीं करते थे।"

श्रीयुत हरिभाऊ उपाध्याय ने श्री जवाहरलाल जी की अँग्रेज़ी में लिखी आत्म-कथा का हिन्दी में अनुवाद किया है। हिन्दी पुस्तक का नाम 'मेरी कहानी' है। उसके आवरण पृष्ठ पर हमें लिखा मिलता है—"यह तो समय-समय पर मेरे

हङ्गामा, बुज़ुर्ग । इससे विदित होता है कि हिन्दी को राष्ट्र-भाषा बनाने का एक-मात्र साधन ये सज्जन उसमें अरबी और फ़ारसी के मोटे-मोटे शब्दों को घुसेड़ना ही समझते हैं। कदाचित् उनको आशा है कि इससे मुसलमान प्रसन्न होकर हिन्दी-भाषा तथा देवनागरी लिपि को अपनाएँगे । परन्तु मुझे तो उनकी यह आशा दुराशा-मात्र ही जान पड़ती है।

मैं दूसरी भाषाओं के शब्दों को लेने के विरुद्ध नहीं। इनसे हमारी भाषा का शब्द-भाण्डार बढ़ता है । परन्तु हमें केवल वही शब्द लेने चाहिएँ जिनके भाव को प्रकट करने वाले शब्द हमारी भाषा में न हों। 'यदि' के रहते 'इफ़' और 'अगर' को लेना: 'विचारों, भावों और घटनाओं' के रहते 'खयालात, जज़बात और वाक़यात' लिखना, 'अक्षर, चित्र-विचित्र, और लिपि' को छोड़ कर 'हरूफ़, अजीबोग़रीब और रस्म-उल-ख़त' का प्रयोग करना सर्वथा अनावश्यक वरन् हानिकारक है। यह हिन्दी पढ़ने वाले बच्चों पर अन्याचार है। मुझे यू० पी० का पता नहीं, परन्तु मैं निश्चय के साथ कह सकता हूँ कि पंजाब के स्कूलों की लड़कियाँ इन फ़ारसी-अरबी शब्दों को बिलकुल नहीं समझतीं। इन अनावश्यक शब्दों को लेना भाषा के भाण्डार को रत्नों के स्थान में घास-फूस और कूड़ा-करकट से भरने की व्यर्थ चेष्टा करना है। मानव-जीवन केवल बहुत-से शब्द सीखने के लिये ही नहीं। शब्द तो मानसिक विकास का साधन-मात्र है।

भाषा बनाने के बहाने संस्कृत शब्दों को कठिन या पण्डिताऊ बता कर उनका जो बहिष्कार किया जा रहा है इससे संस्कृत-भाषा और भारतीय सभ्यता की घोर हानि होने की आशंका है। इस समय भारत मे कहीं भी संस्कृत नहीं बोली जाती। फिर भी यहाँ की सभी भाषायें अपना शब्द-भाण्डार संस्कृत से ही भरती हैं। संस्कृत सभी प्रान्तीय भाषाओं को एकता के सूत्र में बाँधने वाला सूत्र है। यदि यह बात नहीं तो क्या कारण है कि एक हिन्दू के लिये संस्कृत सीखना जितना सुगम है, उतना एक अरब-निवासी के लिये नहीं? संस्कृत-शब्दों का प्रचार बन्द हो जाने से हिन्दुओं के लिये भी संस्कृत-ग्रन्थों का पढ़ना उतना ही कठिन हो जायगा जितना कि अरबों या तुर्कों के लिये है। ऐसी अवस्था में हमारे प्राचीन साहित्य, इतिहास, संस्कृति, धर्म और पूर्वजों से हमारा सम्बन्ध-विच्छेद हो जाएगा, जैसे उर्दू-फ़ारसी पढ़ने वाले भारतीय मुसलमानों का राम-कृष्ण आदि महा-पुरुषों और आर्य-संस्कृति से हो चुका है। यदि भारत में भारतीय भाषा और संस्कृति की रक्षा न होगी तो फिर और कहाँ होगी?

काका कालेलकर कहते हैं—"हम अपने यहाँ कोई नई भाषा नहीं बनाने जा रहे हैं। जिस भाषा को उत्तर-हिन्दुस्तान के शहराती और देहाती लोग मिल कर बोलते हैं और जो सबों की समझ में बड़ी आसानी से आ सकती है उसी को हम भारत की राष्ट्र-भाषा—हिन्दुस्तान की कौमी-ज़बान—

[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]

इससे सरल हिन्दी और क्या हो सकती है? परन्तु जब से पंजाब में अदालत की भाषा उर्दू हुई है और जब से पंजाब के सभी सरकारी स्कूलों में उर्दू ही शिक्षा का माध्यम बना दी गई है तब से गुरुवाणी को समझने वालों का अभाव-सा हो गया है। अब पंजाब की कांग्रेसी स्त्रियाँ "इन्कलाब जिन्दाबाद" कहती हैं, 'क्रान्ति की जय' नहीं। गाँव में भी लोग नज़र सानी, अमर तंकीह, मुद्दई, मुद्दा अलह आदि बोलने लगे हैं। यह क्यों? केवल इसलिये कि उन पर यह शब्द ठूँसे गये हैं। पंजाब की कन्या-पाठशालाओं में, विशेषतः आर्य-समाज और सनातन-धर्म की पुत्री-पाठशालाओं में, जो हिन्दी पढ़ाई जाती है वह शुद्ध संस्कृतानुगामिनी हिन्दी है। इसलिये उन पाठशालाओं की पढ़ी लड़कियों को "नस्तोनाबूद, मयस्सर, लबालब, इशतियाक, खुद-ब-खुद" आदि शब्द ऐसे ही अपरिचित जान पड़ते हैं जैसे चीनी या जापानी शब्द। परन्तु राष्ट्र-भाषा के नाम पर यह कड़वा घूँट उन्हें निगलना पड़ेगा। इसी प्रकार हैदरा-

वे कीड़े उसमें घर बना लेते हैं और उसकी नाक, मुँह आदि के मार्ग से वैसे के वैसे निकलने लगते हैं। यही दशा किसी जाति की है। बलवान् जाति तो विदेशी भाषाओं में से नये और उपयोगी शब्द लेकर आत्मसात् कर लेती है। फिर उनका ऐसा रूपान्तर होता है कि पता ही नहीं लगता कि वे शब्द किसी विदेशी भाषा के हैं या स्वदेशी भाषा के। परन्तु पराधीन निर्बल जाति पर जब कोई सबल जाति प्रभुत्व जमाती है तब वह अपनी भाषा, अपना रहन-सहन और अपना धर्म उसके गले में ठूँसने का यत्न करती है। निर्बल जाति कुछ काल तक तो विजेता के उस सांस्कृतिक और भाषा-सम्बन्धी आक्रमण का प्रतिवाद करती है, परन्तु जब उसमें जीवट नहीं रह जाती तब चुपचाप हार मान कर उन उदासता के चिह्नों को आभूषण समझ कर धारण कर लेती है।

यू० पी० में मुसलमानो का स्थिर राज्य देर तक रहा है। आगरा, लखनऊ, दिल्ली इस्लाम के केन्द्र रहे हैं। इसलिये यू० पी० ही उर्दू का गढ़ है। वहाँ हिन्दू परिवारों की स्त्रियाँ भी 'नमस्ते' के स्थान मे 'दुआ-सलाम' कहती हैं। यू० पी० की अदालत की भाषा भी उर्दू है। यद्यपि हिन्दी को भी अदालतो में स्थान दिया गया है, तथापि क्वचित् ही कोई ऐसा नगर होगा, जहाँ अदालत की भाषा हिन्दी हो। काशी तक में सारा अदालती काम उर्दू में होता है। श्री मालवीय जी

इस प्रकार मिन्नतें और चापलूसियाँ करने से कुछ लाभ न होगा। इससे हिन्दी-प्रेमियों का भी संगठन न रहेगा और दूसरे लोग भी आपसे न मिलेंगे।

श्रीयुत हरिभाऊ उपाध्याय 'मेरी कहानी' की भाषा के सम्बन्ध में कहते हैं कि यह अनुवाद बहुत कुछ श्री जवाहर लाल जी की भाषा में हुआ है अर्थात् यदि मूल लेखक स्वयं हिन्दी में लिखते तो वह हिन्दी ऐसी ही होती। मेरी राय में ऐसी अटपटी भाषा लिखने के लिये यह कोई पर्याप्त कारण नहीं। श्री जवाहरलाल जी राजनीतिक विषयों में नेता और प्रमाण हो सकते हैं, परन्तु इस का यह अर्थ बिलकुल नहीं कि वे प्रत्येक बात में नेता और प्रमाण हैं। विलायत से नवागत कोई अंग्रेज़ अथवा श्री अणे, अथवा श्री सत्यमूर्ति या श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर जैसी हिन्दी बोलते हैं, क्या आप उसी ऊट-पटाँग हिन्दी में उनकी पुस्तकें लिखेंगे और उसका नाम 'राष्ट्र-भाषा' यानी 'हिन्दी-हिन्दुस्तानी' रख कर सारे राष्ट्र को उसका अनुकरण करने का उपदेश देंगे? मेरा विचार है, आप कभी भी वैसा दुस्साहस नहीं कर सकते। आज तक किसी जर्मन देश-भक्त ने अपनी 'आत्म-कथा' अँग्रेज़ी में, किसी अँग्रेज़ ने 'फ्रेंच' में या किसी इटालियन ने 'फारसी' में नहीं लिखी है। श्री जवाहरलाल जी ने खुद हिन्दी में न लिख कर उस विदेशी भाषा में लिखा है। स्पष्ट है कि वे अपनी हिन्दी को साहित्यिक या अनुकरणीय नहीं समझते। पण्डित

निकले। फिर क्या 'ख्वाहिशात, जज़बात और वाक़यात' को सब कोई समझता है ? मैंने तो फ़ौजी गोरों को देखा है। साधारण पढ़े-लिखे होने पर भी वे अंग्रेजी की साहित्यिक पुस्तकों के बहुत से शब्दों के अर्थ नहीं समझते। उनको उनके अर्थ समझाने पड़ते हैं। तो क्या घटना, भावना, लालसा आदि शब्दों को यदि मुसलमान न समझें या समझने का यत्न करने में अपना अपमान समझे तो उनको प्रसन्न करने के लिये साहित्यिक हिन्दी का ही मूलोच्छेदन कर दिया जाय? यह सब को प्रसन्न करने या मुसलमानों के पदलेहन की कुनीति देश को ले डूबेगी। यह किसी बात को सत्य और उचित समझते हुए भी उस पर कटिबद्ध होकर डट जाने की शक्ति देश-वासियों में न छोड़ेगी। इस दासता-सूचक प्रवृत्ति को जितना शीघ्र रोक दिया जाय उतना ही राष्ट्र का भला है।

---

महत्त्व ही नहीं रखते। तुलसीदास के उस स्थल को अधिक चमत्कारी बना देने पर भी महर्षि की प्रतिभा अक्षुण्ण ही रही है। आज मैं पाठकों के सामने अपने समय के कवि श्री मैथिलीशरण गुप्त के 'साकेत' से 'राम-चरित-मानस' और वाल्मीकि के अमर-ग्रन्थ के एक संवाद—तुलना करना चाहता हूँ। मैं इस आलोचना में तीनों ग्रन्थों को कविता—कला की दृष्टि से कस-कर रखना चाहता हूँ; किसी की व्यर्थ प्रशंसा या आलोचना के अखाड़े में फर्ज़ी कुश्ती दिखाने की आवश्यकता को लेकर नहीं चल रहा हूँ। रामायण का वह मन्थरा-कैकयी-संवाद काव्य की 'जान' है। यही वह रूप-रेखा है, जिसका सहारा लेकर 'राम-चरित्र' में महत्ता और 'काव्य तथा आख्यायिका' में उत्थान और पतन के चित्र घटित हो सकते हैं। बाहरी दृष्टि से कैकयी कितनी भी पापिन हो, किन्तु उसके इस पाप से राम-चरित्र में एक अनुपम एवं उज्ज्वल उत्कर्ष का प्रादुर्भाव हुआ है। काव्य तथा आख्यायिका की दृष्टि से इस प्रकार की घटना की अत्यन्त आवश्यकता थी।

यह संवाद वाल्मीकि-रामायण और राम-चरित-मानस में एक ही ढंग से, एक ही क्रम से चला है। दोनों ग्रन्थों के घटना-संयोजन में कोई अन्तर नहीं पड़ा है। वाल्मीकि में राजा दशरथ के राज्याभिषेक की आज्ञा देने पर नगर में उत्सव मनाने की तैयारी की जाती है। मन्थरा उस समय नगर की

राजा दशरथ के लिये एक भी अपशब्द का प्रयोग नहीं किया। इन दोनों वर्णनों से इतना स्पष्ट है कि वाल्मीकि के समय छल कपट का अभाव था। कूट-नीति नाम की कोई चीज़ वाल्मीकि के समय मे नहीं थी। उनकी मन्थरा स्पष्ट-वादिनी थी। क्रोध में आकर जो उसके मुँह में आया कह गई। परन्तु तुलसीदास की मन्थरा चतुर और कपट-पटु थी। उसने—

प्रिय सिय-राम कहा तुम रानी,
रामहिं तुम प्रिय सो फुर बानी।
रहा प्रथम अब ते दिन बीते,
समय परे रिपु होहिं पिरीते।

अन्तिम पद 'समय परे रिपु होहिं पिरीते' कह कर अपने चातुर्य का परिचय दिया है। यही नहीं, अपनी बात को सिद्ध करने के लिए आगे भी चौपाई में एक सिद्धान्त बना डाला है। वह कहती है:—

भानु-कमल कुल पोषनिहारा,
बिनु जल जारि करइ सो छारा।
जरि तुम्हार चह सवति उखारी,
रूँधहु करि उपाय बर बारी।

सूर्य और कमल के सम्बन्ध की उपमा देकर रानी के हृदय मे सन्देह का जो बीज था उसे उखाड़ कर फेंक दिया है, और अन्त में दोनों ग्रन्थों की मन्थरा कैकेयी को उल्टी-सीधी पट्टी पढ़ा कर और उपाय भी बता देती है।

किंकरी ने तब कहा तुरंत,

हो गया भोलेपन का अन्त !

*   *   *   *

सरलता भी है ऐसी व्यर्थ,

समझ जो सके न अर्थानर्थ।

भरत को करके घर से त्याज्य,

राम को देते हैं नृप राज्य।

भरत से सुत पर भी सन्देह,

बुलाया तक न उन्हें जो गेह।

इन दो अन्तिम पंक्तियों द्वारा कवि ने जितनी तीक्ष्ण चोट पहुँचाई है, उसने मातृत्व के हृदय को ज़ोर से झँझोड़ डाला। इस वैज्ञानिक वर्णन में जो चमत्कार है वह न वाल्मीकि के गाली देने में है, और न तुलसीदास के चातुर्य में। साकेत में मन्थरा इतना कह कर ही चली जाती है। वह न तो आगे बढ़ कर उत्तर प्रत्युत्तर करती है और न कैकयी को समझाने की चेष्टा ही करती है। हाँ, इतना कह देना आवश्यक है कि कैकयी इतना सब सुनने के बाद भी मन्थरा को फटकार देती है और वह निराश होकर चली जाती है। परन्तु वह जाती है—

भरत से सुत पर भी सन्देह,

बुलाया तक न उन्हें जो गेह।

कह कर। कैकयी अकेली बैठ कर उस सम्पूर्ण

सेवी उस भरत से सुत पर सन्देह ! संसार से धर्म उठ गया, विश्वास की जड़ें हिल गयीं, जिस भाई की विनयशीलता पर राम मुग्ध थे, दशरथ का हृदय प्रसन्नता में भर अमन्द मन्दाकिनी-कणों से जिसकी पूजा किया करता था। जिन दशरथ का गर्व पुत्रों की शालीनता से संसार में नहीं समा रहा था। उस—

भरत से सुत पर भी सन्देह,
बुलाया तक न उन्हें जो गेह।

कैकयी की दृष्टि में उस समस्या का कोई हल न था। उसका संसार विह्वलता, बेचैनी और शिथिलता का संसार बन गया था। संसार के सम्पूर्ण तर्क उस समय निस्तब्ध और मौन थे। बार-बार वह यही कह उठती थी—

भरत से सुत पर भी सन्देह,
बुलाया तक न उन्हें जो गेह।

विश्व घूम रहा था। उसकी आत्मा मातृत्व की वेदना से काँप उठी थी और बार-बार वह कह रही थी। कितनी गहरी चोट है ! मन्थरा ने उपदेश नहीं दिए। रानी की सौत को गालियाँ नहीं दीं। पति को भी नहीं कोसा। उसने एक ही वेग से, एक ही कमान से विष-बुझा बाण छोड़ दिया और उसका परिणाम देखने के लिए कैकयी को कण्टकित कर दिया। वीभत्स रस की पुष्टि के लिए आलम्बन का तीखा मैदान तैयार कर दिया। इसका नाम कला है जो केवल

पुरोहित, नाई, कहार, कुम्हार, दरजी, धोबी, माली इत्यादि सभी बड़े बाबू को बड़ा आदमी बना कर धन-कुबेर बनाये हैं। वाह-वाह की बात और चाटुकारिता के काँटे ऐसे सर्वत्र बिछे रहते थे कि बेचारे बड़े बाबू को धरती पर सीधे पैर रखना कठिन रहता था। नाइन कहती थी कि लाला गिल्लूमल के गिन्ने के मुण्डन में उसे सोने का कड़ा मिला था। कहार कहता था कि लाला गिरधीचन्द के टावर के जन्म पर उसे एक बड़ा भारी हण्डा मिला था। कुम्हार कहता था कि घनश्यामदास लाला उसे एक सुराही का आठ आना मूल्य देते हैं। दरजी कहता था कि रायबहादुर किसुनलाल अपने लड़कों के कुरतों की सिलाई एक रुपया कुरता देते हैं। पुरोहित का झगड़ा तो प्रतिदिन का था। चाहे कथा हो चाहे श्राद्ध, वह एक ही स्वाँस से पदो[illegible] की उपमा देने लगता था। बड़े बाबू इस भीड़ से कहाँ तक बचते? सरीकन की चिकनाहट उनके दान-पथ को इतना रपटीली बना देती थी कि बड़े बाबू उसमें रपट कर [illegible] से भी आगे पहुँच जाते थे। चापलूसी का उद्देश्य [illegible] था। बड़े बाबू का उदाहरण कृपण धनिकों के [illegible] जाता था।

बड़े बाबू की गृहिणी उनकी उदारता [illegible] थी परन्तु कभी-कभी क्या साधारण [illegible] बाँध के ऊपर से बह कर निकल [illegible]

भी कुछ माँगे के और कुछ निजी बड़े मूल्यवान थे। परन्तु फिर भी सेठानी के यहाँ की मिश्रानी का ठाठ बहुबाइन से अच्छा था। बहुबाइन पर यदि पश्चिमी वायु का प्रभाव पड़ा होता, अथवा गाँधी जी के सरल जीवन की दीक्षा मिली होती, तो उनकी सजावट पर कदाचित् कोई आपत्ति न करता, परन्तु वे नितान्त पुरानी भारतीय संस्कृति की प्रतिकृति थीं। ऊपर से नीचे तक आभूषणों से लदना आवश्यक था। पुरानी संस्कृति की तरीकत में ग़रीबी का स्थान कहाँ है। बहुबाइन पर छींटे भी कसे गये। वे जल-भुन कर रह गयीं। सब से बुरी बात तो यह हुई कि किसी आगन्तुक ने उन्हें साधारण ब्राह्मणी समझ कर दो रुपये की न्योछावर देना चाहा। सेठानी ने भी मना नहीं किया। बस, वह दिन पहला और अन्तिम दिन था। बड़े बाबू ने जिस समय सब बातें सुनीं, तिलमिला गये। पत्नी का किसी के यहाँ भी जाना बन्द हो गया। जब कहीं कोई बहुत कहता-सुनता तो बीमारी का और बच्चों का बहाना कर दिया जाता था।

बड़े बाबू के यहाँ यदि कोई रुग्ण होता तो एक विचित्र समस्या खड़ी हो जाती। पड़ोसी लोगों के यहाँ छींक आने पर भी सिविल सर्जन बुलाया जाता था। बड़े बाबू के पास असिस्टेन्ट सर्जन को भी बुलाने का साहस न था। पास ही एक दानी चिकित्सालय था। वहाँ जाने का

लगे। "डाक्टर साहब हमारे घर वालों की प्रकृति को अच्छी तरह पहचानते हैं। सब के सरद-गरम स्वभाव को अच्छी तरह जानते हैं। इनकी निश्चित की हुई औषधि अवश्य लाभ करती है। बेचारे रात-बिरात जब सुन लेते हैं कि कोई बीमार है या सिविल सर्जन आया है, तो स्वयं आ जाते हैं। फीस बहुत कहने पर भी नहीं लेते।"

सेठ विरधीचन्द ने इस लम्बी भूमिका के तत्त्व को समझ कर रहस्य-पूर्ण मुस्कराहट के साथ कह ही डाला, "तो क्या बात है, यहीं से दवा ले लिया कीजिए। यदि आत्मा कुछ कोंचे तो साल में सौ पचास रुपये इसी चिकित्सालय में दान कर दिया कीजिए। हम सभी लोग दान देते हैं।"

बड़े बाबू ने व्यंग्यार्थ की ओर उपेक्षा करके वाच्यार्थ पर ही ज़ोर देकर बात समाप्त कर दी। उस दिन से इसी चिकित्सालय से व्यवहार खुल गया। नौकर और महाराजिन बच्चे को ले जाया करते थे।

घर की बैठक बड़े बाबू की देशी थी। थोड़े दिनों के लिए कुरसी और सोफा की व्यवस्था ने बड़े बाबू का बड़ा व्यय करा दिया। अब पक्की पृथ्वी पर मोटे गद्दे के ऊपर ही स्वच्छ चादर और उस पर तीन स्वच्छ आवरण के तकिया सब कुछ थे। इससे बड़ी बचत थी। कोट-पतलून वालों को जब बैठने में कष्ट होता; तो बड़े बाबू विनोद की हँसी हँसते

हुए कह दिया करते—"भाई, हम तो भारतीय हैं। हमें तो देशी प्रबन्ध अच्छा लगता है। दो चादरें और गिलाफों की जोड़ी—बस, सब कुछ है।"

बड़े बाबू की निजी वेष-भूषा दुरंगी थी। कार्यालय में तो अँग्रेज़ी वेश में जाया करते थे, परन्तु घर पर गाँधी जी की कृपा थी। एक खद्दर का कुर्ता और एक टोपी। धोती खद्दर की आवश्यक न थी। शीत में घर की बुनी हुई ऊनी बनियायिन और एक सादी अंडी। इस सरलता में सम्मान की पूरी रक्षा थी। बड़े बाबू का सरलता के साथ यह ग्रन्थि-बन्धन नितान्त उपयोगवाद पर आश्रित था, यद्यपि कहा वे यह करते थे कि इस वेश में उन्हें बहुत सुख मिलता है।

चन्दे के प्रश्न पर बड़े बाबू सब से आगे थे। परन्तु वे हमेशा गुप्त-दान किया करते थे। उनके चरित्र के और उपकरण यह तो निश्चित करते न थे कि बड़े बाबू को अपने नाम के विज्ञापन से कोई सैद्धान्तिक विरोध है, परन्तु विज्ञापन का विरोध यहाँ साभिप्राय था। दान की हुई रकम इतनी न्यून होती थी कि उसका गुप्त रखना ही गौरव की रक्षा करना था। घोषित करके दान करने वाले अपने धनी पड़ोसियों का उपहास करते समय भी अपनी महत्ता का चित्र ही उनके समक्ष रहता था। वे कहा करते थे कि दक्षिण-कार्य-संलग्न दक्षिण हाथ के प्रयोग को पड़ोसी बायाँ हाथ भी

# छत पर

[ श्रीयुत सियारामशरण गुप्त ]

ग्रीष्म की अँधेरी रात थी। ऊपर छत पर अकेला बैठा था। नींद का पीछा कर रहा था, पर जैसे गरमी बिताने के लिए वह किसी ऊँचे पहाड़ पर चढ़ गई हो। हवा बन्द थी। बड़ी देर में कभी उसका एकाध झोंका मिलता भी था, पर इससे लाभ क्या? मरुस्थल की लम्बी यात्रा में कोई सूखा झरना दिखाई दे जाय, तो असन्तोष ही बढ़ता है। जाड़े में पानी जम जाता है और इस गरमी में यह हवा जम गई थी!

देखा, ऊपर आकाश में तारे बिखरे हैं। दूर तक, बड़ी दूर तक, दृष्टि जा सकती है वहाँ तक, तारे ही तारे दिखाई देते हैं। पता नहीं, किसने इन्हें कब किस गोधूली बेला में पहले-पहल जगाया था। अनन्त काल बीत गया है, अनन्त काल इसी तरह बीत जायगा, पर ये इसी तरह जगमगाते

रहेंगे। कभी छुट्टी लेते नहीं, कभी विश्राम करते नहीं, ठीक समय पर यथा-स्थान प्रकट हो जाते हैं। देखने में इतने छोटे, परन्तु पार है कुछ इनकी विस्तीर्णता का! बुद्धि चकराने लगती है। इनकी नाप-जोख के लिए मनुष्य की भाषा में संख्या का अभाव है। अनपढ़ आदमी को साठ की गिनती के लिए 'तीन-बीस' कहना पड़ता है। इस नक्षत्र-लोक के विषय में भी हमारे विद्वानों की अवस्था भी ऐसी ही है। उन्हें भी अपने कुछ नये बीसों को पकड़ना पड़ता है, तभी इनके सम्बन्ध में वे कुछ कह सकते हैं।

मनुष्य इनके सामने पानी का बबूला भी तो नहीं। वह कितना छोटा है, कितना क्षण-भंगुर है, इसका पता उसने आज तक नहीं पाया। कदाचित् वह अपने को देखने की सामर्थ्य ही नहीं रखता। इन नक्षत्रों को वह इतने छोटे रूप में देखता है, तब अपने लिए उसकी दृष्टि में शून्यता न होगी, तो और क्या आशा की जा सकती है?

गाँव में किसी के घर लड़की का विवाह था। दूर से मीठी शहनाई की आवाज़ आ रही थी। कुछ अच्छा नहीं लग रहा था। आकाश के खुले हुए उस महा-पृष्ठ ने जाने क्या बात पढ़ा दी थी। कदाचित् यह समाचार पहुँचाया था कि सारी की सारी पृथ्वी मृत्यु-शय्या पर है; किस क्षण वह चल दे; पता नहीं, किस क्षण उसका प्राण-पतंग उड़

जाय। ऐसे में उत्सव की यह बाँसुरी किसे रुचेगी? कौन होगा जिसे इस अवस्था में ऐसी बातें सुख-कर जान पड़ें?

एक धड़ाके के साथ आकाश में प्रकाश फैल गया। बारात वालों की ओर से यह आतिशबाजी की गई थी। सरसराहट के साथ आग का एक तीर-सा ऊपर उठा। थोड़ी देर के लिए जैसे शून्य के दो टुकड़े हो गए हों। इधर-उधर के अन्धकार के बीच में यह एक ऐसी प्रकाश-धारा थी, जिसकी ओर न झुक पड़ना असम्भव था। पता भी न चला और दृष्टि को अपनी ओर खींच कर जैसे उसने आज्ञा दी—देखो, इस ओर देखो! आज्ञा की तरह ही तीखी और खरी और आकस्मिक वह ज्योति थी। चकाचौंध में आँखें क्षणभर को झेंप-सी गईं। ऊपर जाकर उस तीर ने अगणित चिनगारियों की सृष्टि कर दी। बूँदें आग की भी कितनी भली जान पड़ती हैं! जान पड़ा, जैसे एक नये नक्षत्र-लोक की रचना की गई हो। उन नक्षत्रों और इन नक्षत्रों में अन्तर ही क्या था? उतने ही दूर, उतने ही चमकीले, उतने ही बड़े। सब कुछ वैसा ही, कमी किसी बात में न दिखाई दी।

फिर अँधेरा फैल गया। जैसे कोई बात ही न हुई हो। हुई हो, तो बस इतनी कि प्रकाश की यह छोटी ख़ुराक पाकर अन्धकार और पुष्ट हो उठा है। चिनगारियाँ एक क्षण

भी टिकी न रह सकीं। उठीं और विलीन हुईं। थोड़ी-सी आनन्द-क्रीड़ा का अवकाश भी उन्हें न मिला। उनका हिलना-डुलना मृत्यु के पंजे में फँसे हुओं की छटपटाहट ही तो न थी?

क्या यह जीवन इतना ही क्षण-भंगुर है? मृत्यु की बाजी में इसका महत्त्व इतने से अधिक कहा कैसे जाय? आना, और आने के साथ ही क्या इसी तरह इसे विदा करना होता है?

विवाह के अवसर पर जीवन की क्षणिकता का यह बोध बेमेल जान पड़ता है। ऐसे उत्सव में आतिशबाजी मूर्खता से भरी हुई नहीं, तो और क्या समझी जाय? यह क्रीड़ा ठीक वही स्थान हाथ से मसल देती है, जहाँ पर जीवन की सब से बड़ी पीड़ा रहती है। यहाँ उत्सव का ताल बेसुरा प्रतीत होता है। जान पड़ता है, मनुष्य नश्वर ही नहीं, अज्ञानी भी बहुत बड़ा है। अपने छोटे क्षण को भी मधुर बनाना वह नहीं जानता।

सिर के ऊपर ही आतिशबाजी में जीवन और मृत्यु की लड़ाई का यह दुष्परिणाम और नीचे शहनाई बज रही थी। दीपकों के प्रकाश में वहाँ चहल-पहल, हास्य-विनोद, खान-पान और, और भी न जानें क्या-क्या हो रहा होगा। इसी समय किसी मंगलाचार के लिए नारियाँ मिलित कण्ठ से कोई मधुर गीत गानें लगीं।

समझ मे नहीं आता, वे गा क्या रही हैं। वे गा रही हैं, इतना ही जान पड़ता है। उनके शब्द यहाँ इस छत तक नहीं पहुँचते। इस एकान्त तक आकर किसी अर्थ की भीड़ हलचल पैदा नहीं करती। आता है केवल स्वर, आता है केवल संगीत। निचुड़ कर छिलका फोक जैसे वहीं रह गया हो। छने हुए रस की ही उपलब्धि यहाँ होती है।

फिर एक धड़ाका हुआ और आग का वैसा ही तीर सरसराता हुआ ऊपर जाकर बिखर गया। पहले की तरह कितनी ही चिनगारियाँ नक्षत्रों की होड़ करने लगीं। थोड़ी देर बाद फिर वही बात। क्षण-क्षण के अन्तर पर पूर्व की पुनरावृत्ति बार बार होने लगी।

यह ठण्डी-ठण्डी हवा का झोंका आया। इसकी तरलता में नारियों के कण्ठ की मीठी महक बसी हुई है। भूखे को यह जैसे सुस्वादु भोजन मिला। अब यह आतिशबाजी भी पहले की खीझ पैदा करती। हानि क्या, जो इसकी चिनगारियाँ देर तक टिकने नहीं पाती है। जब तक दिखाई पड़ती है, प्रकाश से, जीवन से दमकती ही रहती है। अन्धकार का, दूर हो जाने का, भय जैसे इन्हें छूने तक नहीं पाता। जान नहीं पड़ता कि अन्धकार इनका शत्रु है। स्वजन की भाँति ही उसकी गोद में खेलने लगती है, हिचक इन्हें किसी तरह की नहीं होती।

हम में से कौन बता सकता है कि यह एक से दो होने के उत्सव की बाँसुरी मनुष्य ने पहले-पहल कब फूँकी थी? जब भी फूँकी गई हो, तब से इसका स्वर कभी चुका नहीं। कभी निर्जन अरण्य में, कभी नदी-तीर पर, कभी समुद्र की लहरों से पखारे हुए नारियल के छाया-कुंज में, कभी तारों से जगमगाते हुए ऐसे ही अन्धेरे में, और कभी फागुन की हँसती हुई शुभ्र और स्वच्छन्द पूर्णिमा में, यहाँ, वहाँ और सब जगह, सब देशों मे और सब कालों में, आनन्द की यह अटूट रागिनी एक ही अटूट धारा में निरन्तर एक रस से बही चली आ रही है। वे वर-वधू, वे स्वजन-परिजन, वे अड़ोसी-पड़ोसी कुछ आज के इसी क्षण के नहीं; उनमें चिरकाल का आनन्द बसा हुआ है। चिरकाल के आनन्द से, चिरकाल के प्रेम से, इनके ललाट अभिषिक्त हैं।

और यह जो मैं आज इस छत पर इन नक्षत्रों को देखता हुआ यहाँ अकेले में लेटा हुआ हूँ, क्या अकेले आज का ही हूँ? जान पड़ता है मैं भी उन्हीं सब के बीच का हूँ। मेरी भी छोटी फूंक ने उस चिरन्तन बाँसुरी को स्वर-दान दिया है। कभी वर वधू के वेश मे, कभी स्वजन-परिजनों के रूप में। कभी इस युग मे, कभी उस युग मे, कभी इस देश मे, कभी उस देश में। विभिन्न देशों मे विभिन्न भाषाओं मे, भिन्न-भिन्न राग-रागनियों की सृष्टि करते हुए, कभी तो सावन की दूर तक फैली हरियाली के बीच, और कभी सूर्य

# स्वर्ग का एक कोना

[ श्रीमती महादेवी वर्मा ]

उस सरल कुटिल मार्ग के दोनों ओर, अपने कर्त्तव्य की गुरुता से निःस्तब्ध प्रहरी जैसे खड़े हुए, आकाश में भी धरातल के समान मार्ग बना देनेवाले सफ़ेदे के वृक्षों की पंक्ति से उत्पन्न दिग्भ्रांति जब कुछ कम हुई तब हम एक दूसरे ही लोक में पहुँच चुके थे, जो उस व्यक्ति के समान परिचित और अपरिचित दोनों ही लग रहा था जिसे कहीं देखना तो स्मरण आ जाता है परन्तु नाम-धाम नहीं याद आता।

उस सजीव सौंदर्य में एक अद्भुत निःस्पंदता थी जो उसे नित्य दर्शन से साधारण लगनेवाले सौंदर्य से भिन्न किये दे रही थी।

चारों ओर से नीलाकाश को खींचकर पृथ्वी से मिलाता हुआ क्षितिज, रुपहले पर्वतों से घिरा रहने के कारण, बादलों से बने घेरे जैसा जान पड़ता था। वे पर्वत अविरल और

फूलों में मुझे दो जंगली फूल 'मजारपोश' और 'लालपोश' बहुत ही प्रिय लगे।

मजारपोश अधिक से अधिक संख्या में समाधि पर फूलकर, अपनी नीली अधखुली पंखड़ियों से, अस्थि-पंजर को ढँके हुई धूलि को नंदन बना देता है और लालपोश हरे लहलहाते खेतों में अपने आप उत्पन्न होकर, अपने गहरे लाल रंग के कारण, हरित धरातल पर जड़े पद्म-राग की स्मृति दिला जाता है। फूलों के अतिरिक्त उस स्वर्ग के बालक भी स्मरण की वस्तु रहेंगे। उनकी मजारपोश जैसी आँखें, लालपोश जैसे होंठ, हिम जैसा वर्ण और धूलि जैसा मलिन वस्त्र उन्हें ठीक प्रकृति का एक अंग बनाये रखते हैं। अपनी सारी मलिनता में कैसे प्रिय लगते हैं वे! मार्ग में चलते न जाने किस कोने से कोई भोला बालक निकल आता और 'सलाम जनाब पाला' कहकर विश्वासभरी आँखों से हमारी ओर देखने लगता। उसकी गंभीरता देखकर यही प्रतीत होता था कि उसने सलाम करके अपने गुरुतम कर्त्तव्य का पालन कर दिया है अब उसे सुननेवाले के कर्त्तव्य पालन की प्रतीक्षा है। शीत ने इन मोम के पुतलों को अंगारों में पाला है और दरिद्रता ने पाषाणों में। प्रायः सवेरे कुछ सुंदर सुंदर बालक नंगे पैर पानी में करम का साग लाते दौड़ते दिखाई देते थे और कुछ अपना शिकारा लिये 'सलाम जनाब पार पहुँचायेगा' पुकारते हुए। ऐसे ही कम अवस्था वाले

बालकों को कारखानों में शाल आदि पर गंभीर भाव से सुंदर बेल-बूटे बनाते देखकर हमें आश्चर्य हुआ।

काश्मीरी स्त्रियाँ भी बालकों के समान ही सरल जान पड़ीं। उनके मुख पर न जाने कैसी हँसी थी, जो क्षण भर आँखों में झलक जाती थी और क्षण भर में होंठों में। वे एड़ी चूमता हुआ कुर्ता और उसके नीचे पायजामा पहनकर एक छोटी सी ओढ़नी को कभी कभी बीच से तह करके, तिकोना बनाकर, और कभी कभी वैसे ही सिर पर डाले रहती हैं। प्रायः मुसलमान स्त्रियाँ ओढ़नी के नीचे मोती लगी या सादी टोपी लगाये रहती हैं जो सुन्दर लगती है।

प्रकृति ने इन्हें इतना भव्य रूप दिया, परंतु निष्ठुर भाग्य ने दियासलाई के डिब्बे जैसे छोटे मलिन अभव्य घरों में प्रतिष्ठित कर और एक मलिन वस्त्र-मात्र देकर इनके सौंदर्य का उपहास कर डाला और हृदयहीन विदेशियों ने अपने ऐश्वर्य की चकाचौंध से इनके अमूल्य जीवन को मूल लेकर मूल्य-रहित बना दिया। प्रायः इतर श्रेणी की स्त्रियाँ मुझे कागज़ में लपेटी हुई कलियों की तरह मुर्झाई मुस्कराहट से युक्त जान पड़ी। छोटी छोटी बालिकाओं के मंद स्मित में याचना, प्रौढ़ाओं की फीकी हँसी में विवशता और वृद्धाओं की सरल चितवन मे असफल वात्सल्य झाँकता रहता था।

इनके अतिरिक्त सफ़ेद दुग्ध-फेननिभ दाढ़ीवाले, आँखों में

पुरातन चश्मा चढ़ाये, पतली उँगलियों में सुई दबाकर कला को वस्त्रों में प्रत्यक्ष करते हुए शिल्पकार भी मुझे तपस्वियों जैसे ही भव्य लगे। इस सुंदर हिम-राशि में समाधिस्थ पर्वत के हृदय में इतनी कला कैसे पहुँचकर जीवित रह सकी, यह आश्चर्य का विषय है। कोई काष्ठ जैसी नीरस वस्तु को सुंदर आकृति देकर सरस बना रहा था, कोई कागज़ कूटकर बनाई हुई वस्तुओं पर छोटी तूलिका से रंग भर-भरकर उसमें प्राण का संचार कर रहा था और कोई रंग-बिरंगे ऊन या रेशम से सूती और ऊनी वस्त्रों को चित्रमय जगत् किये दे रहा था। सारांश यह कि कोई किसी वस्तु को भी वैसा नहीं रहने देना चाहता था जैसा ईश्वर ने बनाया है।

काश्मीर के सौंदर्य-कोष में सब से मूल्यवान् मणि वहाँ के शालामार और निशात बाग़ माने जाते हैं और वास्तव में सम्राज्ञी नूरजहाँ और सम्राट् जहाँगीर की स्मृति से युक्त होने के कारण वे हैं भी इसी योग्य। शालामार में बैठकर तो अनायास ही ध्यान आ जाता है कि यह उसी सौंदर्य-प्रतिमा का प्रमोद-वन रह चुका है जिसे सिंहासन तक पहुँचाने के लिए उसके अधिकारी को स्वयं अपने जीवन की सीढ़ी बनानी पड़ी और जब वह उस तक पहुँच गई तब उसकी गुरुता से संसार काँप उठा। यदि वे उन्नत, सघन और चारों ओर वरद हाथों की तरह शाखाएँ फैलाये हुए

मादकता लिये घूमती सी ज्ञात होती है, परंतु दोनों ही अपूर्व हैं, इसमें संदेह नहीं।

इस चिर नवीन स्वर्ग ने, सुंदर शरीर के मर्म में लगे हुए व्रण के समान, अपने हृदय में कैसा नरक पाल रक्खा है, यह कभी फिर कहने योग्य करुण कहानी है।

---

# शकुंतला की विदा

[ श्रीयुत कैलाशनाथ भटनागर एम. ए. ]

राजा दुष्यंत के चले जाने के पश्चात् अनसूया और प्रियंवदा पुष्प चुन रही थीं। अनसूया बोली—सखी प्रियंवदा! गांधर्व-विवाह की विधि से कल्याण को प्राप्त हुई शकुंतला को सुयोग्य पति मिल जाने से मेरा हृदय शांत हो गया है। तथापि इतनी चिंता अवश्य है कि आज ऋषियों से विदा होकर वह राजर्षि जब अपने अंतःपुर में पहुँचेगा तब यहाँ के वृत्तांत को स्मरण रक्खेगा या नहीं।

प्रियंवदा—ऐसी विशेष आकृतियाँ गुण की विरोधी नहीं होतीं। किंतु अब इस वृत्तांत को सुनकर पिताजी क्या कहेंगे?

अनसूया—मैं तो समझती हूँ कि उनकी अनुमति मिल जायगी, क्योंकि सिद्धांत यही है कि "गुणवान् को कन्या दी जानी चाहिए"। यदि दैव ही इस कार्य कर दे तो गुरु-जन अनायास ही कृतार्थ हैं।

पुष्प चुनती हुई ये दोनों इस प्रकार वार्त्तालाप कर रही थीं कि सहसा सुनाई पड़ा—अरे ! यह मैं हूँ।

अनसूया—सखी ! यह किसी अतिथि का-सा शब्द है।

प्रियंवदा—शकुंतला कुटी के पास है सही, परंतु आज उसका चित्त ठिकाने नहीं है।

अतः वे दोनों कुटी की ओर चल पड़ीं। परंतु इसी समय फिर सुनाई पड़ा—अरी अतिथि का निरादर करने वाली ! तू अनन्य मन से जिसका चिंतन करती हुई मुझ तपस्वी का स्वागत नहीं करती वह, स्मरण कराने पर भी, तुझे वैसे ही स्मरण नहीं करेगा जैसे उन्मत्त पुरुष पहले कहे हुए अपने प्रलाप-वाक्यों को स्मरण नहीं कर सकता।

यह सुनकर प्रियंवदा ने कहा—हाय ! अनर्थ हो गया। किसी का सत्कार न करके शून्य-हृदय शकुंतला ने अपराध किया है।

आगे बढ़कर देखा तो शाप देकर महर्षि दुर्वासा शीघ्रता से जा रहे थे। प्रियंवदा, उनके सत्कार के लिए, अर्घ्य आदि लेने चली गई। अनसूया ने आगे बढ़कर उनकी अभ्यर्थना की। उसके अधिक अनुनय-विनय करने पर महर्षि दुर्वासा कुछ शांत हुए।

अनसूया ने आकर कहा—सखी उन्हें कुछ शांत तो किया है परंतु वे लौटे नहीं। वे यह कहते चले गये कि

"मेरा वचन अन्यथा नहीं होता; किंतु अभिज्ञान के दर्शन द्वारा शाप की निवृत्ति हो जायगी।"

प्रियंवदा—अच्छा, आश्वासन के लिए यही यथेष्ट है। उस राजर्षि ने चलते समय अपने नाम से अंकित अँगूठी, स्मृति के लिए, पहना दी थी। उससे शकुंतला का काम चल जायगा।

प्रियंवदा और अनसूया ने शकुंतला को इस शाप की सूचना देना उचित न समझा।

प्रियंवदा ने कहा—चमेली को उष्ण जल से सींचने का साहस कौन कर सकता है?

कुछ दिनों के अनंतर अनसूया को चिंता हुई। वह सोचने लगी कि क्या दुर्वासा के शाप से ही इतना विलंब हो रहा है? अन्यथा उस राजर्षि ने इतना आश्वासन देकर भी अब तक पत्र क्यों नहीं भेजा? सखी दोष की भागी होगी, इसलिए प्रवास से लौटे हुए पिता कण्व से—दुष्यंत से विवाही गई—गर्भवती शकुंतला का वृत्तांत कहने में असमर्थ हूँ। अब क्या करना चाहिए?

अनसूया इस प्रकार चिंतित थी कि प्रसन्न-वदन प्रियंवदा वहाँ आ गई। वह कहने लगी—सखी! शीघ्रता करो। पिता कण्व ने आज शकुंतला को, तपस्वियों के साथ, दुष्यंत के पास भेजने के लिए कहा है।

अनसूया—पिता ने यह वृत्तांत कैसे जाना?

प्रियंवदा—जब वे यज्ञ-स्थान के पास पहुँचे, तब आकाश-वाणी हुई कि शकुंतला दुष्यंत द्वारा गर्भवती है।

"आज ही शकुंतला भेजी जायगी" यह शुभ समाचार सुनकर अनसूया प्रसन्न तो हुई, किंतु साथ ही सखी की विदाई के कारण उसके दुःख की मात्रा भी कम न थी। अब दोनों सखियाँ, मंगल-द्रव्य एकत्र कर, शकुंतला के पास चली गईं।

इसी समय महर्षि कण्व का शब्द सुनाई दिया। वे गौतमी से कह रहे थे कि शार्ङ्गरव और शारद्वत् शिष्यों से, शकुंतला को पहुँचाने के लिए, कह दो।

प्रियंवदा और अनसूया ने देखा कि, सूर्य उदय होते ही, शकुंतला स्नान किये बैठी है और स्वस्ति-वाचन करनेवाले तपस्वी, उसके मंगल के लिए, आशीर्वाद दे रहे हैं।

दोनों सखियाँ जाकर शकुंतला का शृंगार करने लगीं।

"सखियों द्वारा किया हुआ यह शृंगार अब मुझे दुर्लभ हो जायगा" इस विचार से शकुंतला की आँखों में आँसू भर आये।

इस शुभ अवसर पर रोने से उसे सखियों ने रोका।

महर्षि कण्व के प्रताप द्वारा वृक्षों से स्वयं प्राप्त रेशमी वस्त्र तथा आभूषण शकुंतला को पहनाये गये।

नित्य-कृत्य से निपट कर महर्षि कण्व भी शकुंतला के पास आ गये। वे सोच रहे थे कि शकुंतला आज पति-गृह

को जायगी, इसलिये उनका हृदय दुखित हो रहा था। आँसुओं के रोकने से गला भारी हो रहा था, चिंता के कारण इंद्रियाँ जड़ हो रही थीं। उन्हें आश्चर्य होता था कि मुझ वनवासी को स्नेह से इतनी वियोग-पीड़ा हो रही है तो अपनी कन्याओं के प्रथम-वियोग से पीड़ित गृहस्थियों का क्या कहना?

शकुंतला ने लज्जा से, उठकर, उन्हें प्रणाम किया। कण्व ने आशीर्वाद दिया—पुत्री! ययाति को शर्मिष्ठा के समान तू स्वामी की प्रिया हो। तेरे वैसा ही चक्रवर्ती पुत्र हो, जैसा शर्मिष्ठा के पुरु उत्पन्न हुआ था।

महर्षि कण्व ने उसे, आहुति दी हुई, अग्नि की प्रदक्षिणा करने को कहा। सब ने प्रदक्षिणा की। तब महर्षि कण्व ने शार्ङ्गरव आदि अपने दोनों शिष्यों को बुलाकर शकुंतला को मार्ग दिखाने का आदेश किया।

शार्ङ्गरव शकुंतला को मार्ग दिखाने लगा। सब उधर जाने लगे। कण्व ने तपोवन के वृक्षों को संबोधित कर कहा—हे तपोवन के वृक्षो! तुम्हें सींचे विना जो जल नहीं पीती थी, आभूषणों की प्रेमी होने पर भी—तुम्हारे स्नेह से—जो तुम्हारे पल्लव नहीं तोड़ती थी और तुम्हारे प्रथम विकास के समय जो प्रसन्न होती थी, वही शकुंतला आज पति-गृह को जा रही है। तुम सब इसे आज्ञा दो।

इसी समय कोयल बोल उठी। महर्षि कण्व ने समझा

कि वृक्ष, कोयल के मधुर वचन द्वारा, शकुंतला को पति-गृह जाने की आज्ञा देते हैं।

इसके अनंतर फिर शब्द सुनाई दिया—"तुम्हारे मार्ग कल्याणमय हों!" यह वन-देवियों का आशीर्वाद था। शकुंतला ने सिर झुकाकर आशीर्वाद ग्रहण किया; फिर सखी प्रियंवदा से धीरे से कहा—स्वामी के दर्शन के लिए उत्सुक होने पर भी आश्रम को त्यागते हुए मेरे पैर, दुःख के कारण, आगे नहीं बढ़ते।

प्रियंवदा—सखी! चलते समय तपोवन के विरह से कुछ तुम्हीं कातर नहीं हो, वरन् तपोवन की भी वैसी दशा है। मृग मुँह से कुश-ग्रास गिरा रहे हैं, मोरों ने नाच बंद कर दिया है और लताओं ने, पुराने पत्ते गिराकर, मानों आँसू बहाये हैं।

शकुंतला अब वन-ज्योत्स्ना लता से विदा लेने गई। इस पर उसका बहन का-सा स्नेह था। वह पास जाकर कहने लगी—"हे वनज्योत्स्ना! आम से लिपटी रहने पर भी तू इधर बढ़ी हुई शाखा-रूपी भुजाओं से, मुझे आलिंगन कर। आज मैं तुझसे दूर हो जाऊँगी।" फिर सखियों से बोली—सखियो! इसे मैं तुम्हारे हाथ सौंपती हूँ।

दोनों सखियों ने आँसू गिराते हुए कहा—और हमें किसके हाथ सौंप रही हो?

यह सुनकर महर्षि कण्व ने कहा—अनसूया! रोओ मत। शकुंतला को तुम्हीं धीरज बँधाओ।

शकुंतला—पिताजी! कुटी के समीप रहनेवाली मृगी के सकुशल प्रसव करने की मुझे सूचना भेजिएगा।

इस समय चलते-चलते एक मृग ने पीछे से आकर शकुंतला का आँचल खींच लिया। शकुंतला ने घूमकर देखा तो वही मृग था जिसे इसने स्वयं खिला-पिलाकर बड़ा किया था। रोती हुई शकुंतला ने उसे लौटा दिया।

महर्षि कण्व ने शकुंतला से शांत हो जाने को कहा। क्योंकि रोने से आँखों में आँसू आ जाने के कारण विषम मार्ग में चलना कठिन था।

इतने में सब एक सरोवर के पास पहुँच गये। शार्ङ्गरव ने ऋषि से कहा—भगवन्! प्रिय जन का अनुगमन जलाशय तक ही करना चाहिए। सो यह सरोवर है। अब आप हमें संदेश देकर लौट जायँ।

सब लोग वट-वृक्ष की छाया में बैठ गये। महर्षि कण्व ने राजा दुष्यंत के लिए संदेश दिया—"हे राजन्! हम तपस्वियों को, अपने उच्च कुल को तथा तुम्हारे लिए इसकी आत्म-प्रेरित स्नेह-प्रवृत्ति को भले प्रकार विचारकर तुम सब स्त्रियों में इसे समान गौरव से देखना। इससे अधिक भाग्य के अधीन है, कन्या के स्वजनों को उसे कहना उचित नहीं।"

# परशुराम-राम-संवाद

[ श्रीयुत कैलाशनाथ भटनागर एम. ए ]

परशुराम उत्तेजित होकर जनकपुरी पहुँचे। दास-दासियों ने राम को सूचना दी कि अपने गुरु शिव के धनुर्भंग से क्रोधित परशुराम आपको खोज रहे हैं।

यह सूचना पाकर राम प्रसन्न हुए। कहने लगे कि त्रिपुरारि के शिष्य, वेदाभ्यास से शुद्ध-चरित, भृगुवंश के स्वामी, महाभाग्यशाली, परशुराम के दर्शन करने चाहिएँ। वे भी मुझे देखने को इच्छुक हैं। परन्तु नव-विवाहिता सीता ने, भय के कारण, उच्च कुल के योग्य लज्जा को त्यागकर, राम को रोकना चाहा। सखियों ने भी मना किया। परंतु राम कहने लगे—काम मे विलंब करने से विरसता होती है।

सीता की सखियाँ बोलीं—सुना है कि परशुराम ने बारंबार पृथिवी को क्षत्रियों से रहित करके अपना मनोरथ पूर्ण किया है।

इन बातों से राम कब डरने लगे थे ? उन्होंने कहा—क्या एक दोष से उस महान् ज्ञान-निधि का माहात्म्य न्यून हो सकता है जिसने पृथ्वी पर क्षत्रिय-वंश के राजाओं का इक्कीस बार सर्व-नाश किया; बाहु बल द्वारा कार्त्तिकेय अर्जुन को जीत कर ख्याति और प्रशंसा प्राप्त की; अश्वमेध मे गुरु कश्यप को द्वीपों सहित पृथिवी दान दी और जो अब ऐसे स्थान पर तपस्या करता है जो समुद्र को परशु से हटाकर प्राप्त किया गया है।

सीता और उनकी सखियों को राम आश्वासन दे रहे थे कि परशुराम 'दशरथ का पुत्र राम कहाँ है ?' कहते हुए अंतःपुर मे आते दिखाई पड़े।

राम ने उन्हे देखकर कहा—अहा ! ये त्रिभुवन के अद्वितीय वीर भार्गव मुनि दुष्प्राप्य तेजराशि के समान हैं; ये प्रताप और तपस्या से प्रकाशमान शरीर धारण किये हुए है। प्रचंड वीर-रस की तो ये मूर्त्ति ही हैं।

इतने मे परशुराम पास ही पहुँच गये। उनके कंधे पर चमकीला परशु तथा तर्कस था। वे जटा, धनुष, कौपीन और मृगछाला धारण किये हुए थे। उनके रुद्राक्ष से लिपटे हाथ में बाण चमक रहा था। उनका यह वेष भय और शांति से मिश्रित शोभा का विस्तार कर रहा था।

राम ने सीता को वहाँ से हटने और घूँघट काढ़ने को कहा।

प्रकार मेरे मन को हर रहा है। सच कहता हूँ, तेरा आलिंगन करने की इच्छा होती है।

यह सुनकर सीता की सखियाँ प्रसन्न होकर सीता से बोलीं—राजकुमारी! राम के भाग्य को देखो। तुम सदा लज्जा के कारण पराङ्मुख होकर अपने को ठगती हो।

सीता आँसू भरकर, दीर्घ साँस लेकर, चुप रहीं।

राम—भगवन्! आलिंगन तो मेरे दमन-कार्य के विपरीत होगा।

सीता—धीरता और स्निग्धता-सहित इनकी विनय उदारता से शोभित है।

अब तो परशुराम पर तीव्र प्रभाव पड़ा। वे सोचने लगे कि दूसरों के गुणोत्कर्ष के जानने पर भी सौजन्य से इस राजकुमार का अंतःकरण पवित्र है। मंद-बुद्धिवालों में इसका महा-गर्व विनय के कारण दुर्ज्ञेय है; निपुण बुद्धिवालों द्वारा ग्राह्य है। पता नहीं चलता, यह अलौकिक चरित्रवाला वीर बालक कौन है। यह असीम महत्ता से उत्कृष्ट है। इसका शरीर लोकों को अभय-दान की पुण्य-राशि के योग्य है। इसका शरीर लक्ष्मी, तेज, धर्म, मान, विजय और पराक्रम आदि सात्त्विक गुणों से उज्ज्वल हो रहा है। अथवा लोकों की रक्षा के लिए धनुर्वेद ने शरीर धारण किया है; वेद की रक्षा के लिए क्षत्रिय-धर्म-युक्त शरीर प्राप्त किया है। शक्तियों का समुदाय अथवा गुणों का समूह प्रकट होकर उपस्थित है। इस प्रकार

अधिक समय तक सोचकर परशुराम ने कहा—राजकुमारी को भीतर ले जाओ।

इतने मे धनुष लिये सीरध्वज जनक और शतानंद वहाँ आते दिखाई पड़े। उन्हे देखकर सखियों को धीरज बँधा। संग्राम-लक्ष्मी से. राम की विजय के लिए, हाथ जोड़कर प्रार्थना करके सखियों के साथ सीता भीतर चली गईं।

परशुराम—है तो यह सदाचारी परंतु तब भी क्षत्रिय है। इस कारण क्रोध आता है।

राम—आप इतनी करुणा क्यों दिखाते हैं?

परशुराम—कुछ नहीं। तुमसे भेंट हो जाने से चित्त मे सुख अधिक उमड़ रहा है। तुम्हे देखने से नेत्रों को आनंद हो रहा है। नया कंकण पहने हुए तुम मुझे प्रिय लग रहे हो। पर मेरे गुरु की अवज्ञा करने से तुम वध्य हो। सो मुझे पहले से ही दुःख हो रहा है।

राम—मुझ पर आपकी बड़ी दया जान पड़ती है।

परशुराम—क्या तू बच गया? ठहर, तुझ अमृत-पूर्ण मेघ के समान स्निग्ध शरीरवाले के कंठ पर मेरा परशु गिरता है।

राम ने फिर कहा—सचमुच आपको मुझ पर दया आ रही है।

परशुराम—ओह! मुझी पर भौंहे चढ़ा रहा है! अरे क्षत्रिय-युवक! तू बच्चा है। तेरी नई नन्हीं वय है। इस कारण

है जैसे इंद्र के वज्र से आकाश। अधिक क्या कहे, यह सूर्य-वंशी वृद्ध राजा पुत्र-प्रेम के कारण तुमसे अभय माँगता है। इन निरर्थक झगड़ों से तुम्हें क्या मतलब ?

परशुराम—यदि राम इतना पराक्रमी न होता तो मैं क्षमा कर देता। आप ही देखे, बालक होकर भी राम अद्भुत कर्मों से प्रसिद्ध हो गया है। फिर गुरु के धनुर्भंग-रूप कठिन तिरस्कार को सहकर भी भार्गव कैसे मौन बैठा रहे ? अकारण अल्प-मात्र भी निंदा पाने पर, चारों ओर निरंतर यश एकत्र करने में लगे हुए, उत्तम पुरुषों की मलिन जन-श्रुति विस्तार को प्राप्त हुई किसी प्रकार भी नहीं हटती।

वशिष्ठ—वत्स ! जीवन-पर्यंत इस अस्त्र-धारण करने की प्रवृत्ति से क्या लाभ ? जामदग्न्य ! तुम श्रोत्रिय हो। पवित्र पथ का अनुगमन करो। तुम तपस्वी हो। मित्रता, दुःख में करुणा, सुख में प्रसन्नता और पापियों पर उपेक्षा, इन चारों मनोहर गुणों का अभ्यास करो। इस परशु का त्याग कर दो। देखो, यह ऋषियों की सभा, वृद्ध राजा युधाजित्, मंत्रियों सहित राजा दशरथ, वृद्ध लोमपाद और वेदज्ञ विदेह राज सभी तुमसे अभय-दान की याचना करते हैं।

परशुराम—शत्रु का नाश किये बिना गुरु महादेव को मैं कैसे मुँह दिखाऊँगा ?

विश्वामित्र—यदि गुरु की इतनी चिंता है तो मेरा भी कुछ ध्यान करो। पहले भृगु, वशिष्ठ और अंगिरा ये तीनों

ऋषि हुए थे। तुम भृगु-वंशी हो, वशिष्ट अंगिरा के वंश में उत्पन्न हैं। इस प्रकार तुम दोनों परस्पर संबंधी हो।

परंतु परशुराम की बुद्धि में कुछ न आता था। वे कहने लगे—पूज्य जनों के वचन न मानने के अपराध का मैं प्रायश्चित्त कर लूँगा, परंतु शस्त्र-ग्रहण के महा-व्रत को दूषित न करूँगा। स्वभाव से ही शस्त्र-ग्रहण मुझे मुक्ति से अधिक प्रिय है। आप मेरी इस कर्कश भुजा को देखें जो प्रत्यंचा की रगड़ से चिह्नित है।

वशिष्ट ने मन ही मन कहा कि यद्यपि यह गुणों से महान् है पर है अति प्रचंड। दर्प ही दिखा रहा है।

विश्वामित्र ने फिर समझाते हुए कहा—वत्स! सुनो, अकेले कार्त्तवीर्य के गाय हर लेने के अपराध से कुपित होकर तुमने पहले इक्कीस बार क्षत्रियों का नाश किया था। तब तुम्हारे गुरु-जनों तथा च्यवन आदि ऋषियों ने तुम्हें शांत किया था। इतना क्रोध मत करो।

परशुराम—पितृ-वध से प्रयुक्त हुआ मैं क्षत्रियों के संहार से हट गया था। च्यवन आदि के वाक्यों से मैंने क्रोधाग्नि और परशु को रोक लिया था परंतु शिव-धनुष तोड़कर राम ने मुझे अब फिर बल-पूर्वक उत्तेजित किया है। चपल राम का सिर काटकर मैं फिर वन को चला जाऊँगा। दशरथ और जनक स्वस्थ रहें। फिर ऐसा अत्याचार न हो।

ये वचन सुनकर शतानंद को क्रोध आ गया। उन्होंने

कहा—किसकी शक्ति है कि मेरे अति-प्रिय राजर्षि यजमान विदेह-राज की छाया को भी छू सके? और फिर जामाता को कौन छुएगा? यदि मेरा यजमान किसी से अपमानित हो तो हमारे आंगिरस कुल को धिक्कार है।

विश्वामित्र—धन्य गौतम! धन्य! तुम जैसे पुरोहित से राजा जनक कृतकृत्य हैं।

परशुराम—गौतम! अनेक क्षत्रियों के तुम्हारे जैसे पुरोहित ब्रह्म-तेज से कूदते थे। किन्तु मेरे अलौकिक तेज के सामने उनका साधारण बल शांत हो गया।

शतानंद को अब असीम क्रोध चढ़ आया। उन्होंने कहा—अरे बैल! निरपराध क्षत्रियों के नाशक, महापापी, अशिष्ट, विकृत चेष्टावाले, बीभत्स-कर्मी, पाखंडी, शस्त्रोप-जीवी, धर्म-त्यागी! मेरे सामने भी तू गर्व करता है? तू अवश्य नीच ब्राह्मण है।

परशुराम—रे दुष्ट स्वस्ति-वाचन करनेवाले! क्षुद्र राजा के पुरोहित! तेरे कहने से मैं शस्त्रोपजीवी हूँ!

अब शतानंद ने इस भृगु-वंश के दूषण-रूप परशुराम को शाप देना चाहा। परंतु वशिष्ठ ने कठिनता से उन्हें शांतकर बाहर भेजा।

परशुराम तब भी बोलते रहे। कहने लगे—क्षत्रिय के आश्रित बालक की गर्जना देखो। इससे क्या? अरे दशरथ और जनक की दया पर जीनेवाले ब्राह्मण! तेरे कुल में जिसे

चिंता नहीं है। ब्राह्मण के कटु भाषण पर मुझे दुःख नहीं है। परंतु यह पापात्मा ब्रह्मचारी, राम के अमंगल के लिए, बढ़-बढ़कर बातें मार रहा है। इसे कैसे क्षमा किया जाय?

परशुराम—आः दुरात्मा, नीच क्षत्रिय! मुझे पापात्मा कहकर तिरस्कृत करता है। ठहर! परशु से तेरे टुकड़े-टुकड़े करता हूँ।

महाराज दशरथ ने अब जनक और परशुराम के बीच आकर कहा—भार्गव! सुनो। ये राजा हमसे भी श्रेष्ठ हैं।

परशुराम—आप तो स्वामी की नाईं मुझे डाँट रहे हैं। स्मरण रखिए, मैं स्वभाव से सदा स्वतंत्र रहा हूँ और आप क्षत्रिय हैं।

दशरथ—इसी कारण तो हम तुम्हें क्षमा न करेंगे। उद्दंड पुरुषों के दमन करने का क्षत्रियों को अधिकार है। तुम उद्दंड हो, हम तुम्हें सुधारनेवाले क्षत्रिय हैं। शीघ्र शांत हो जाओ, अन्यथा दंड पाओगे। कहाँ तो ब्राह्मण का शांत स्वभाव और कहाँ क्षत्रिय धर्म के ये अस्त्र!

परशुराम ने हँसकर कहा—चिरकाल के पश्चात् परशुराम को सुधारनेवाला स्वामी मिला है! मुझे सुधारनेवाले तो केवल शिव ही हैं। सब क्षत्रियों के संहार करनेवाले को क्षत्रिय कैसे सुधार सकता है?

इतने में राम भी वहाँ आ गये। अब तो युद्ध अनिवार्य था। परशुराम ने राम को ललकारा और कहा—राजकुमार! आओ, परशुराम को जीतो। फिर हँसकर कहा—जीत न सकोगे। रेणुका का पुत्र तुम्हारा काल है।

# कुणाल की उदारता

[ श्रीयुत कैलाशनाथ भटनागर एम. ए. ]

स्थान—पाटलिपुत्र का जंतु-गृह

समय—सायंकाल

[ दो चांडालों के साथ तिष्यरक्षिता का प्रवेश ]

एक चांडाल—जल्दी चलो, महारानी ! जल्दी चलो।

तिष्यरक्षिता—मेरा पैर नहीं उठता। चलूँ कैसे ? हाय! महारानी कहलाऊँ और ऐसा दंड पाऊँ। धिक्कार है ऐसी महारानी पर !

दूसरा चांडाल—अब सूझा धिक्कार ! पहले सूझ कहाँ सो रही थी ?

पहला चांडाल—अरे चंडसेन ! बातों में मत लगो। आगे बढ़ो। समय बीत जायगा तो महाराज क्रोध करेंगे।

चंडसेन—अरे रुद्रसेन ! विलंब करने से सिंह की भूख और भड़क उठेगी। इसमें क्रोध कैसा ? अच्छा, लो बढ़ो, बढ़ो। चलते चलो।

( सिंह की गर्जना सुनाई देती है )

तिष्यरक्षिता—( काँपकर ) हाय ! मैं मरी। ( दीन-भाव से ) भगवन् ! एक बार रक्षा करो। एक बार बचा लो।

रुद्रसेन—महारानी ! व्याकुल क्यों होती है ? क्या भगवान् ने अपने शरीर द्वारा भूख से दुखी एक सिंह की प्राण-रक्षा नहीं की थी ? अब भगवान् का स्मरण कीजिए और उनकी इस घटना पर अनुष्ठान कीजिए। संसार को दिखा दीजिए कि महारानी तिष्यरक्षिता भी भूख से व्याकुल सिंह की प्राण-रक्षा करने में तनिक भी संकोच नहीं करतीं।

( चंडसेन की ओर देखकर मुसकराता है )

चंडसेन—हाँ, बिलकुल ठीक है।

तिष्यरक्षिता—( रोती हुई ) हाय ! सिंह की गर्जना से मेरा हृदय दहला जाता है। उसे देखकर मैं जीवित न रह सकूँगी। मेरा भयभीत हृदय दो टूक हो जायगा।

रुद्रसेन—हाँ, बस, हृदय दो टूक होते समय झट से कह दीजिएगा "नमो बुद्धाय" । तब कल्याण होगा। सिंह आशीर्वाद देगा।

चंडसेन—और इनका जीवन परोपकारार्थ सिद्ध होगा। कल्याण के काम में विलंब करना ठीक नहीं। जल्दी चलो।

तिष्यरक्षिता—हाय, ये दोनो कैसे पाषाण-हृदय है ! मेरे तो प्राण जाने को हैं, इन्हें हँसी-ठट्ठा सूझ रहा है। चांडाल का हृदय भगवान् ने कैसा बनाया है !

यह समझें कि युद्ध में इसके नेत्र जाते रहे। तीरों ने इसके नेत्रों को अपना लक्ष्य बना लिया।

अशोक—कुमार! समझने की बात और है तथा वास्तविक बात और। चांडालो! विलंब मत करो। बढ़ो, बढ़ो।

(चांडाल तिष्यरक्षिता को लेकर आगे बढ़ते हैं। पिंजड़े के खुलने का शब्द सुनकर कुणाल उधर भागते हैं और ठोकर खाकर गिर पड़ते हैं।)

अशोक—(कुणाल को पिंजड़े की ओर भागते देखकर) चांडालो! ठहरो, अभी पिंजड़ा मत खोलो। (आगे बढ़कर कुणाल को पकड़ लेते हैं।)

कुणाल—(खड़े होकर, विनीत-भाव से हाथ जोड़कर) पूज्य पिताजी! यदि आप माता को क्षमा न करेंगे तो मेरा भी यहीं अंत हो जायगा। यदि आप मुझे जीवित रखना चाहते है, तो मेरी प्रार्थना स्वीकार कीजिए। माता तिष्यरक्षिता को मुक्त कर दीजिए।

अशोक—पुत्र! मैं वृद्ध हूँ। तुम्हारा वियोग सहन नहीं कर सकता।

कुणाल—तो मेरी प्रार्थना स्वीकार कीजिए।

अशोक—(सोचकर, विवशता से) तथास्तु।

कुणाल—(सहर्ष) चांडालो! हट जाओ। माता! निर्भय हो जाओ।

(चांडाल पीछे हट जाते है।)

तिष्यरक्षिता—( नम्र-भाव से ) कुमार ! मैं घोर अपराधिनी हूँ। तुमने मुझ पर दया दिखाई है। मेरे शुष्क हृदय में दया-भाव का स्रोत बहाया है। मैंने सारे जीवन में जो शिक्षा ग्रहण न की थी वह आज पा ली। धन्य हो तुम ! धन्य है तुम्हारी पवित्र आत्मा ! मुझे क्षमा करो। ( चरण-स्पर्श करती है )

कुणाल—( हाथ हटाकर ) माता ! यह क्या ? आप अब पिछली बातें भूल जायँ।

( नेपथ्य में )

"सारथी ! रथ शीघ्र चलाओ। मैं स्वामि-देव के लिए चिंतित हूँ। वे जंतु-गृह पहुँच गये होंगे।

( रथ का वेग से दौड़ने का शब्द सुनाई देता है।

शीघ्र ही एक रथ पास आकर रुक जाता है )

कांचनमाला—(रथ से उतर कर; कुणाल को देखकर) स्वामिदेव !

कुणाल—पिताजी ने मेरी प्रार्थना स्वीकार कर ली। आनंद-मंगल मनाओ।

कांचनमाला—( सहर्ष ) यह बड़ा शुभ अवसर है।

तिष्यरक्षिता—( दीन-भाव से ) कांचनमाला ! मेरा अपराध क्षमा करो। मैं अज्ञान-वश भ्रम-जाल में फँस रही थी।

कांचनमाला—माताजी ! आप इसकी कुछ चिंता न करें। सारा संसार ही भ्रम-जाल में फँसा हुआ है।

तिष्यरक्षिता—अब मेरे अज्ञान का आवरण दूर हो गया। मुझे अपनी करनी पर पश्चात्ताप हो रहा है। मैं पापिनी हूँ।

क्या है, औल इक्का, औल इक्का ?" खिलौनेवाला बच्चों को देखता, उनकी नन्ही-नन्ही उँगलियों और हथेलियों से पैसे ले लेता, और बच्चों के इच्छानुसार उन्हें खिलौने दे देता। खिलौने लेकर फिर बच्चे उछलने-कूदने लगते और तब फिर खिलौने-वाला उसी प्रकार गाकर कहता--"बच्चों को बहलानेवाला, खिलौनेवाला।" सागर की हिलोर की भाँति उसका यह मादक गान गली-भर के मकानों में, इस ओर से उस ओर तक, लहराता हुआ पहुँचता, और खिलौनेवाला आगे बढ़ जाता।

राय विजयबहादुर के बच्चे भी एक दिन खिलौने लेकर घर आए। वे दो बच्चे थे--चुन्नू और मुन्नू। चुन्नू जब खिलौना ले आया, तो बोला—"मेला घोला कैछा छुंदल ऐ!"

मुन्नू बोला—"औल देखो, मेला आती कैछा छुंदल ऐ!"

दोनों अपने हाथी-घोड़े लेकर घर-भर में उछलने लगे। इन बच्चों की मा, रोहिणी कुछ देर तक खड़े-खड़े उनका खेल निरखती रही। अंत में दोनों बच्चों को बुलाकर उसने उनसे पूछा—"अरे ओ चुन्नू-मुन्नू, ये खिलौने तुमने कितने में लिए है?"

मुन्नू—'दो पैछे में। थिलौनेवाला दे गया ऐ।"

रोहिणी सोचने लगी—इतने सस्ते कैसे दे गया है? कैसे दे गया है, यह तो वही जाने। लेकिन दे तो गया ही है, इतना तो निश्चय है।

एक ज़रा-सी बात ठहरी। रोहिणी अपने काम में लग गई। फिर कभी उसे इस पर विचार करने की आवश्यकता ही भला क्यों पड़ती।

[ २ ]

छः महीने बाद।

नगर-भर में दो-ही-चार दिनों में एक मुरलीवाले के आने का समाचार फैल गया। लोग कहने लगे—"भई वाह! मुरली बजाने में वह एक ही उस्ताद है। मुरली बजाकर, गाना सुनाकर वह मुरली बेचता भी है, सो भी दो-दो पैसे। भला, इसमें उसे क्या मिलता होगा! मेहनत भी तो न आती होगी।"

एक व्यक्ति ने पूछ दिया—"कैसा है वह मुरलीवाला, मैंने तो उसे नहीं देखा?"

उत्तर मिला—"उम्र तो उसकी अभी अधिक न होगी, यही तीस-बत्तीस का होगा। दुबला-पतला गोरा युवक है, बीकानेरी रंगीन साफ़ा बाँधता है।"

"वही तो नहीं, जो पहले खिलौने बेचा करता था?"

"क्या वह पहले खिलौने भी बेचता था?"

"हाँ, जो आकार-प्रकार तुमने बतलाया, उसी प्रकार का वह भी था।

"तो वही होगा! पर भई, है वह एक ही उस्ताद।"

प्रतिदिन इसी प्रकार उस मुरलीवाले की चर्चा होती। प्रतिदिन नगर की प्रत्येक गली में उसका मादक, मृदुल स्वर

सुनाई पड़ता—"बच्चों को बहलानेवाला, मुरलियावाला!"

रोहिणी ने भी मुरलीवाले का यह स्वर सुना। तुरंत ही उसे खिलौनेवाले का स्मरण हो आया। उसने मन-ही-मन कहा—खिलौनेवाला भी इसी तरह गा-गाकर खिलौने बेचा करता था।

रोहिणी उठकर अपने पति विजय बाबू के पास गई, बोली—"ज़रा उस मुरलीवाले को बुलाओ तो, चुन्नू-मुन्नू के लिये ले लूँ। क्या जाने यह फिर इधर आए, न आए। वे भी, जान पड़ता है, पार्क में खेलने निकल गए हैं।"

विजय बाबू एक समाचार-पत्र पढ़ रहे थे। उसी तरह उसे लिए हुए वे दरवाज़े पर आकर मुरलीवाले से बोले—"क्यों भई, किस तरह देते हो मुरली?"

किसी की टोपी गली में गिर पड़ी। किसी का जूता पार्क में ही छूट गया, और किसी की सोथनी (पाजामा) ही ढीली होकर लटक आई। इस तरह दौड़ते-हाँफते हुए बच्चों का झुंड आ पहुँचा। एक स्वर से सब बोल उठे—"अम बी लेंदे मुल्ली, औल अम बी लेंदे मुल्ली।"

मुरलीवाला हर्ष-गद्गद हो उठा। बोला—"सबको देंगे भैया। लेकिन ज़रा रुको, ज़रा ठहरो, एक-एक को लेने दो। अभी इतनी जल्दी हम कहीं लौट थोड़े ही जायँगे। बेचने तो आए ही हैं, और हैं भी इस समय मेरे पास एक-दो नहीं, पूरी सत्तावन।...हाँ बाबूजी, क्या पूछा था आपने, कितने में

दीं ?...दीं तो वैसे तीन तीन पैसे के हिसाब से है, पर आपको दो-दो पैसे में ही दे दूँगा।"

विजय बाबू भीतर-बाहर दोनों रूपों में मुस्किरा दिए। मन-ही-मन कहने लगे—कैसा ठग है! देता सबको इसी भाव से है, पर मुझ पर उलटा एहसान लाद रहा है। फिर बोले—"तुम लोगों की झूठ बोलने की आदत ही होती है। देते होंगे सभी को दो-दो पैसे में, पर एहसान का बोझा मेरे ही ऊपर लाद रहे हो!"

मुरलीवाला एकदम अप्रतिभ हो उठा। बोला—"आपको क्या पता बाबूजी कि इनकी असली लागत क्या है। यह तो ग्राहकों का दस्तूर होता है कि दूकानदार चाहे हानि ही उठाकर चीज़ क्यों न बेचे, पर ग्राहक यही समझते हैं—दूकानदार मुझे लूट रहा है। ..आप भला काहे को विश्वास करेंगे। लेकिन सच पूछिए, तो बाबूजी, इनका असली दाम दो ही पैसा है। आप कहीं से भी दो-दो पैसे मे ये मुरलियाँ नहीं पा सकते। मैंने तो पूरी एक हजार बनवाई थीं, तब मुझे इस भाव पड़ी है।"

विजय बाबू बोले—"अच्छा-अच्छा, मुझे ज्यादा वक्त नहीं, जल्दी से दो ठो निकाल दो।"

दो मुरलियाँ लेकर विजय बाबू फिर मकान के भीतर पहुँच गए।

मुरलीवाला ---र तक उन बच्चों के झुंड मे मुरलियाँ बेचता

आदमी जान पड़ता है। समय की बात है, जो बेचारा इस तरह मारा-मारा फिरता है। पेट जो न कराए, सो थोड़ा।

इसी समय मुरलीवाले का क्षीण स्वर दूसरी निकट की गली से सुनाई पड़ा—"बच्चों को बहलानेवाला, मुरलियावाला!"

रोहिणी इसे सुनकर मन ही-मन कहने लगी—और स्वर कैसा मीठा है इसका!

बहुत दिनों तक रोहिणी को मुरलीवाले का वह मीठा स्वर और उसकी बच्चों के प्रति वे स्नेह-सिक्त बातें याद आती रहीं। महीने-के-महीने आए और चले गए। पर मुरलीवाला न आया। धीरे-धीरे उसकी स्मृति भी क्षीण हो गई।

[ ४ ]

आठ मास बाद—

सरदी के दिन थे। रोहिणी स्नान करके अपने मकान की छत पर चढ़कर घुटनों तक लंबे केश सुखा रही थी। इसी समय नीचे की गली में सुनाई पड़ा—"बच्चों को बहलानेवाला, मिठाईवाला!"

मिठाईवाले का स्वर उसके लिये परिचित था। झट-से रोहिणी नीचे उतर आई। उस समय उसके पति मकान में नहीं थे। हाँ, उसकी वृद्धा दादी थीं। रोहिणी उनके निकट आकर बोली—"दादी, चुन्नू-मुन्नू के लिये मिठाई लेनी है। ज़रा कमरे में चलकर ठहराओ तो। मैं उधर कैसे जाऊँ, कोई

आता न हो। ज़रा हटकर मैं भी चिक की ओट में बैठी रहूँगी।"

दादी उठकर कमरे में आकर बोली—"ए मिठाईवाले, इधर आना।"

मिठाईवाला निकट आ गया। बोला—"कितनी मिठाई दूँ मा? ये नई तरह की मिठाइयाँ हैं—रंग-बिरंगी, कुछ-कुछ खट्टी, कुछ-कुछ मीठी, ज़ायकेदार; बड़ी देर तक मुँह में टिकती हैं। जल्दी नहीं घुलतीं। बच्चे इन्हें बड़े चाव से चूसते हैं। इन गुणों के सिवा ये खाँसी भी दूर करती हैं। कितनी दूँ? चपटी, गोल और पहलदार गोलियाँ हैं। पैसे की सोलह देता हूँ।"

दादी बोली—"सोलह तो बहुत कम होती हैं, भला पचीस तो देते।"

मिठाईवाला—"नहीं दादी, अधिक नहीं दे सकता। इतनी भी कैसे देता हूँ, यह अब मैं तुम्हें क्या...। ख़ैर, मैं अधिक न दे सकूँगा।"

रोहिणी दादी के पास ही बैठी थी। बोली—"दादी, फिर भी काफी सस्ती दे रहा है। चार पैसे की ले लो। ये पैसे रहे।"

मिठाईवाला मिठाइयाँ गिनने लगा।

"तो चार की दे दो। अच्छा, पचीस न सही, बीस ही दो। और हाँ, मैं बूढ़ी हुई, मोल-भाव अब मुझे ज्यादा कर आता भी नहीं।"—कहते हुए दादी के पोपले मुँह की जरा-सी मुस्किराहट भी फूट निकली।

रोहिणी ने दादी से कहा—"दादी, इससे पूछो, तुम इस शहर में और भी कभी आए थे, या पहली ही बार आए हो। यहाँ के निवासी तो तुम हो नहीं।"

दादी ने इस कथन को दोहराने की चेष्टा की ही थी कि मिठाईवाले ने उत्तर दिया—"पहली बार नहीं, और भी कई बार आ चुका हूँ।"

रोहिणी चिक की आड़ ही से बोली—"पहले यही मिठाई बेचते हुए आए थे, या और कोई चीज़ लेकर?"

मिठाईवाला हर्ष, संशय और विस्मयादि भावों में डूबकर बोला—"इससे पहले मुरली लेकर आया था, और उससे भी पहले खिलौने लेकर।"

रोहिणी का अनुमान ठीक निकला। अब तो वह उससे और भी कुछ बातें पूछने के लिये अधीर हो उठी। वह बोली—"इन व्यवसायों में भला तुम्हें क्या मिलता होगा?"

वह बोला—"मिलता भला क्या है! यही, खाने-भर को मिल जाता है। कभी नहीं भी मिलता है। पर हाँ, संतोष, धीरज और कभी-कभी असीम सुख ज़रूर मिलता है। और यही मैं चाहता भी हूँ।

"सो कैसे? वह भी बताओ।"

"अब व्यर्थ उन बातों की क्यों चर्चा करूँ? उन्हें आप जाने ही दें। उन बातों को सुनकर आपको दुःख ही होगा।"

"जब इतना बताया है, तब और भी बता दो। मैं ब-

उत्सुक हूँ। तुम्हारा हर्जा न होगा। मिठाई मैं और भी कुछ ले लूँगी।"

अतिशय गंभीरता के साथ मिठाईवाले ने कहा—"मैं भी अपने नगर का एक प्रतिष्ठित आदमी था। मकान, व्यवसाय, गाड़ी-घोड़े, नौकर-चाकर, सभी कुछ था। स्त्री थी; छोटे छोटे दो बच्चे भी थे। मेरा वह सोने का संसार था। बाहर संपत्ति का वैभव था, भीतर सांसारिक सुख था। स्त्री सुंदरी थी, मेरा प्राण थी। बच्चे ऐसे सुंदर थे, जैसे सोने के सजीव खिलौने। उनकी अठखेलियों के मारे घर में कोलाहल मचा रहता था। समय की गति! विधाता की लीला! अब कोई नहीं है। दादी, प्राण निकाले नहीं निकले। इसीलिये अपने उन बच्चों की खोज में निकला हूँ। वे सब अंत में होंगे तो यहीं कहीं। आखिर कहीं-न-कहीं जन्मे ही होंगे। उस तरह रहता, तो घुल-घुलकर मरता। इस तरह सुख-संतोष के साथ मरूँगा। इस तरह के जीवन में कभी-कभी अपने उन बच्चों की एक झलक-सी मिल जाती है। ऐसा जान पड़ता है, जैसे वे इन्हीं में उछल-उछलकर हँस खेल रहे हैं। पैसों की कमी थोड़े ही है, आपकी दया से पैसे तो काफ़ी हैं। जो नहीं हैं, इस तरह उसी को पा जाता हूँ।"

रोहिणी ने अब मिठाईवाले की ओर देखा। देखा—उसकी आँखें आँसुओं से तर हैं।

इसी समय चुन्नू-मुन्नू आ गए। रोहिणी से लिपटकर, उसका अंचल पकड़कर बोले—"अम्मा, मिठाई!"

"मुझसे लो।"—कहकर, तत्काल कागज़ की दो पुड़ियाँ, मिठाइयों से भरी, मिठाईवाले ने चुन्नू-मुन्नू को दे दीं।

रोहिणी ने भीतर से पैसे फेंक दिए।

मिठाईवाले ने पेटी उठाई, और कहा—"अब इस बार ये पैसे न लूँगा।"

दादी बोली—"अरे-अरे, न न, अपने पैसे लिए जा भाई।"

तब तक आगे फिर सुनाई पड़ा उसी प्रकार मादक, मृदुल स्वर में—"बच्चों को बहलानेवाला, मिठाईवाला!"

---

यह शांति का युग अधिक समय तक न रह सका। दो-तीन सदियों के अंदर मुगल साम्राज्य के पैर उखड़ गए, उनके आश्रित हिंदू-राजाओं को भी अपनी चिंता करनी पड़ी। अंग्रेज़ों के आगमन ने देश की परिस्थिति को फिर बदल दिया। मुग़ल-काल में पराधीनता आई, लेकिन गरीबी नहीं। जब तक गरीबी नहीं आई देश का हृदय आत्म-निरीक्षण के लिए तैयार नहीं हुआ। किंतु जब रोटी के भी लाले पड़ने लगे तब देश ने आत्म-निरीक्षण करना शुरू किया। भारतेंदु-काल से जो भी कविताएँ लिखी गईं उनमें अधिकांश देश की हीन स्थिति का रोना है। संतों का दिया हुआ भक्ति का मंत्र पार्थिव जगत् की आवश्यकताओं को पूरा न कर सका।

रीति-काल के कवियों की विलास-भावनाएँ ख़ाली पेटों को संतुष्ट न कर सकीं। अचानक कवियों की नींद टूटी। उन्होंने युग की बेचैनी को अनुभव किया। उन्होंने देश का ध्यान गौरवमय भूतकाल की ओर आकर्षित किया और वर्तमान हीनावस्था का चित्र खींचा। उन्होंने देखा कि उनकी पराधीनता के मूल में उनकी सामाजिक विषमता है। अचानक उनका ध्यान समाज की कुरीतियों की ओर गया। अधिकांश हिंदी के कवि हिंदू या आर्य संस्कृति के प्रशंसक और संशोधक के रूप में लोगों के सामने आने लगे। उस समय की कविताओं में समाज की दुर्दशा का चित्र है, लेकिन परतंत्रता-पाश में बाँधने वाली शक्ति के प्रति विद्रोह की भावना

की शराब नहीं पिलाते, लेकिन आत्मिक बल का गंगा जल पिलाते हैं।

रहस्यवाद वह प्रवृत्ति है जो आत्मा और परमात्मा के संबंधों पर प्रकाश डालती है। आत्मा और परमात्मा के संबंधों का वर्णन करते हुए जो कविताएँ लिखी जाती हैं वे ही रहस्यवादी कविताएँ हैं। इस युग में 'प्रसाद', 'निराला', पंत, महादेवी, 'मिलिंद', 'नवीन' आदि ने अनेक रहस्यवादी कविताएँ लिखी हैं। मैंने 'अनंत के पथ पर' नाम की पुस्तक इस विषय की लिखी है। इस तरह से रहस्यवाद भी इस युग की एक आवश्यकता की पूर्ति है।

इस युग की कविता की एक विशेषता और है, वह यह कि इसने स्थूल जगत को छोड़ कर सूक्ष्म जगत को अपना क्षेत्र बनाया है। कवि 'छाया' के वर्णन में अपना समय नष्ट नहीं करता। वह तो अन्तर्जगत में झाँकता है। वह जड़ वस्तुओं की [illegible] को नहीं देखता, वह उसमें की चेतना को देखता है। वह जड़ में भी मानव भावनाओं को, चेतन की अनुभूतियों का दर्शन करता है। यही जड़ में चेतन का अनुभव करना छायावाद है। छायावादी रचनाओं ने भी जीवन को व्यापक बनाया है। इसने इसे संकुचित सीमा से मुक्त किया है। संकीर्णता के बन्धन से निकाल कर असीम के आकाश में पहुँचाया है। इस प्रकार की रचनाएँ हमें बल देती हैं, आत्मबल देती हैं।

किंतु, इस तरह के कवि पथ-भ्रष्ट न हो जावें, इसी की आशंका है। मूर्ति में अमूर्त तो देखें यह कल्याणकर है, किंतु, यदि मूर्ति को ही अमूर्त समझ लें, तो कहना होगा कि वे असीम को भूल कर सीमा में बँध रहे हैं। मूर्ति में भी अमूर्त है यह हमारी भावना होनी चाहिए न कि मूर्ति ही अमूर्त है यह भावना। अपने आपको जगत् के कण कण में व्यापक पाओगे तो उससे अपना बल बढ़ा हुआ पाओगे। लेकिन यदि एक कण में अपने देवता को बाँधोगे तो स्वयं उस कण से भी छोटे बन जाओगे। इसलिए जिस मूल भावना को लेकर छायावाद आया है उसे छायावादी कवि को भूलना न चाहिए।

इस युग में हमें दूसरे देशों के साहित्य से भी परिचय पाने का अवसर पड़ा और हम पर दूसरे देशों की साहित्यिक धाराओं का भी प्रभाव पड़ा है। हालावाद [illegible] भी एक विदेशी भावना का परिणाम है। उमर खैयाम की प्याली पीकर बच्चन जैसे कवियों का आगमन हुआ है। ये लोग प्रकृति को सत्य मानते हैं [illegible] को [illegible]। ये लोग सांसारिक [illegible] को [illegible] जीवन [illegible] [illegible] समझते हैं। ये [illegible] के पुजारी [illegible] साधन की आवश्यकता नहीं समझते [illegible] जीवन [illegible] हुए। और [illegible] जीवन [illegible] साधना [illegible] [illegible] इसमें [illegible]

की अनेक रचनाएँ लिखी हैं। इन कविताओं में देश में आने वाले युग की पूर्व-सूचना है। क्या अच्छा हो यदि इन क्रांति-दर्शी कवियों की भविष्यवाणी सत्य न हो, अर्थात् पीड़ित अपने अधिकार पा सकें, पर संसार को भयानक क्रांति-ज्वाला में न जलना पड़े। महात्मा गांधी का अध्यात्मवाद संसार पर विजयी हो। पीड़ित प्राणों की प्रतिहिंसा विद्रोह की आग बन कर न प्रकट हो। पर क्या ऐसा हो सकेगा? क्या पूंजीवाद अपनी मौत आप मर सकेगा?

हमारी आधुनिक कविता यहां आकर ठहर गई है। वह वीरों के यशोगान से प्रारंभ हुई, देवता पर फूल चढ़ाने लगी, नारी के शरीर से लिपटी, हिंदू-जाति का दर्पण बनी, राष्ट्र का शंखनाद बनी, रहस्य की झाँकी बनी, जड़ में चेतनता के दर्शन कराने वाली दूरबीन बनी और अब क्रांति की दूतिका बनी है।

# भारत के किसान-आन्दोलन

[ श्री अख्तरहुसैन रायपुरी ]

देखते ही देखते भारत में राष्ट्रीयता की बेल बड़ी तेज़ी से मौंढे चढ़ गई है। बच्चे-बच्चे की ज़बान से सुन लीजिए—"भारत भारतीयों के लिये।" मगर 'भारतीय' शब्द का अर्थ परिस्थिति के साथ बदलता रहता है। भारतीयता के नाते में तो राजा प्रजा, ज़मींदार-किसान, मालिक-मजदूर सभी बँधे हुए हैं। अतः इनमें से हर एक अपनी-अपनी आवश्यकता के अनुसार स्वराज का स्वप्न देखा करता है। ज़मींदार का स्वराज यही है कि सरकारी जमा न देना पड़े, किसानों से अधिकाधिक पैदावार वसूल कर सके और बेगार ले सके। किसान का स्वराज यह है कि लगान न देना पड़े, अपने परिश्रम का कुल फल उसे मिले और बनियों के चंगुल से निकल जाय। मिल-मालिक का स्वराज यह है कि मज़दूरों से २४ में से २० घंटे काम लें, और बन सके तो उन्हें कानी कौड़ी

न दे। मज़दूर का स्वराज यह है कि जो कुछ पैदा करे, उस पर उसका ही अधिकार हो; कम-से-कम समय दे और अधिक-से-अधिक लाभ हो। अगर ज़मींदारों और मिल-मालिकों को पता चल जाय कि भावी स्वराज उनकी कल्पना के अनुसार न होगा, उसमें मनमानी लूट की गुज़र न होगी, तो फिर वे बहुत सोच-समझकर 'स्वराज' का नाम लेंगे। इसी प्रकार यदि किसानों और मज़दूरों को मालूम हो जाय कि 'स्वराज' में उनकी आर्थिक दशा न सुधरेगी, रक्त-शोषण का सिलसिला यों ही जारी रहेगा, तो वे स्वभावानुसार राम भजन करने और मौलूद पढ़ते हुए लम्बी तान लेंगे।

प्रत्येक देश में राजनीतिक जाग्रति पूँजीपति एवं शिक्षितवर्ग तक ही परिमित रहा करती है। उपनिवेशों का धनिक और शिक्षित समुदाय प्रारम्भिक राष्ट्रीय आन्दोलनों में हमेशा आगे-आगे रहता है। अपने देश की विभूतियों की लूट से उसका खून खौल उठता है, इसलिए नहीं कि वह अत्याचार और विषमता का नाश करना चाहता है, बल्कि इसलिए कि वह 'स्वराज' अर्थात् अपने वर्ग का राज्य चाहता है। वह जानता है कि शासन [illegible]

पर नज़र डालिये। वहाँ किसानों और दरिद्रों की अवस्था बीस वर्ष पहले की अपेक्षा किसी प्रकार अच्छी नहीं, जब वे विदेशियों के दास और अर्द्ध-दास थे। विदेशी शासन के जुए को उतार फेंकने और शासनाधिकार लेने के लिए इस पूँजीपति एवं शिक्षित समुदाय को किसानों और मज़दूरों को संगठित करना पड़ता है। उनके संगठन से यह श्रेणी विदेशी सरकार को डराती है। इस संगठन से पूँजीपति श्रेणी के दो उद्देश्य होते हैं। एक दल तो विदेशियों पर दबाव डालकर, लूट खसोट में थोड़ा-बहुत हिस्सा बँटाकर, अलग हट जाता है। दूसरा दल, जो अधिक आकांक्षी और श्रेणी-जाग्रत होता है, किसानों और मज़दूरों को हथियार बनाकर उस समय तक लड़ता रहता है, जब तक सत्ता उसके हाथ में न आ जाय। भारत के मुसलमान और हिन्दू शिक्षित समुदाय में यही भेद है। एक नौकरी पाकर खुश हो जाता है, दूसरा नौकरी बाँटने का अधिकार चाहता है।

गत ग्यारह-बारह वर्ष के भीतर देश में किसान आन्दोलन आरम्भ हुए, और बिना किसी परिणाम पर पहुँचे या तो अकाल में ही टूट गये, या कुचल दिये गये। सन् २१-२२ के मोपला आन्दोलन से लेकर [illegible], किशोरगंज, [illegible], [illegible] और अलवर सभी आन्दोलनों की ओर [illegible] [illegible] जमींदारों और साहूकारों के [illegible] किसानों के अधिकार [illegible]

थे; परन्तु हर कहीं स्वाभाविक परिणाम पर पहुँचे बिना, कोई भी लाभ हासिल हुए बिना, वे शिथिल कर दिये गये। ऐसा क्यों होता है? क्या किसानों की शिकायतें दूर हो जाती हैं? क्या उनकी दशा में वस्तुतः कोई परिवर्तन हो जाता है? बिलकुल नहीं; बल्कि असफल होने के बाद तो अत्याचार और भी अधिक होने लगता है, ताकि वे फिर कभी सिर उठाने का साहस न करें। "असफल योद्धा विद्रोही कहलाता है। सफल होने पर वही सिंहासनारूढ़ होता।" वास्तव में किसान-आन्दोलनों की अकाल मृत्यु के तीन प्रमुख कारण हैं:—

(१) आन्दोलन का पथ-भ्रष्ट किया जाना।

(२) सहायता और सहानुभूति बिना आन्दोलन का परिमित हो जाना।

(३) नेताओं की धोखेबाज़ी।

किसानों को संगठित करने के लिये आवश्यक है कि उन्हें कोई प्रलोभन दिया जाय, वरना बहुत जल्दी उनका उत्साह ठंडा हो जायगा। स्वदेशी मिलों का कपड़ा चलाने के लिए खादी-प्रचार की आड़ में स्वदेशी-आन्दोलन को फैलाना ही पड़ेगा। हालाँ कि यह मालूम है कि मेशीनरी-युग में दस्तकारी को बढ़ाना और मिलों के माल से उसे प्रतियोगिता में ठहराना असम्भव है। किसान सोचता है कि इस प्रकार आमदनी की एक सूरत निकल आयेगी, नागरिक सोचता है कि देशी उद्योग धन्धों को लाभ होगा। कुछ दिनों के बाद नागरिक तंग आकर मिलों

आपकी भाषा में केवल उन अरबी फारसी के शब्दों का प्रयोग हुआ है जो बोलचाल में आने लगे हैं। संस्कृत के तद्भव शब्दों की अधिकता है, आवश्यकतानुसार उचित मुहावरों का भी प्रयोग किया गया है।

आपकी बाल्य-काल से ही प्रतिभा प्रखर थी। पाँच वर्ष की आयु में आपने निम्नलिखित दोहा रचा था—

ले ब्योड़ा ठाढ़े भए, श्री अनिरुद्ध सुजान।
बाणासुर की फौज को हनन लगे बलवान॥

आपने बंगला-साहित्य से सुग्रंथों का अनुवाद करना आरंभ किया। 'विद्या-सुंदर' नाटक आपका इस विषय का पहला प्रयास है। इसके पश्चात् आपने 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' नाम का एक मौलिक प्रहसन लिखा। बाद में 'कर्पूर-मंजरी,' 'सत्य-हरिश्चंद्र,' 'मुद्रा-राक्षस,' 'चंद्रावली-नाटिका', 'भारत-दुर्दशा' 'अंधेर-नगरी', 'नील देवी' आदि कई नाटक लिखे।

भारतेंदु जी ने तीन पत्रिकाएँ निकालीं—'कवि-वचन-सुधा,' 'हरिश्चंद्र मेगज़ीन' (अथवा 'हरिश्चंद्र चंद्रिका') और 'बाला-बोधिनी'। आप स्त्री-शिक्षा के प्रबल समर्थक थे। इसी कारण आपने 'बाला-बोधिनी' पत्रिका निकाली थी। 'काश्मीर कुसुम', 'बादशाह दर्पण' नाम के आपने दो ऐतिहासिक ग्रंथ भी लिखे। हिंदी गद्य का महत्त्व-पूर्ण परिमार्जन करने तथा अनंत ग्रंथ रचना के कारण आपको आधुनिक हिंदी-भाषा और साहित्य का जन्म-दाता कहा जाता है।

अशुद्धियों की भी कुछ परवाह नहीं की है। आपकी शैली में चुटीलापन ऐसा है जो कि अन्य लेखकों की रचना में नहीं मिलता। आपने 'ब्राह्मण' मासिक पत्र तथा 'हिंदुस्तान' का संपादन किया था।

---

## पं० बालकृष्ण भट्ट

(सं० १६११—१६७१)

आप प्रयाग के 'कायस्थ-पाठशाला-कालेज' में संस्कृत के अध्यापक थे। गद्य-लेखकों में आपका प्रमुख स्थान है। आपकी शैली में व्यक्तित्व की छाप साफ दिखलाई पड़ती है। आपका विचार हिंदी को सदा व्यापक बनाने का रहा और संस्कृत के अतिरिक्त उर्दू के तत्सम शब्दों का प्रयोग भी किया है। इसके अतिरिक्त आपकी रचना में अँगरेज़ी के शब्द भी पाये जाते हैं।

साधारण से साधारण विषय कान, नाक, आँख आदि पर आपने सुन्दर निबंध लिखे हैं। मुहावरों का सुदर प्रयोग आपकी भाषा में हुआ है। स्थान-स्थान पर मुहावरों की लड़ी सी गुथी दिखाई पड़ती है। आपकी इस शैली का परिणाम यह हुआ कि भाषा में सौष्ठव, ओज और आकर्षण उत्पन्न होगया। यद्यपि आपकी रचनाओं का आकार भारतेंदु जी की रचनाओं के समान विस्तृत नहीं है तथापि कई अर्थों में आपका यह कार्य नवीन है।

---

## ठाकुर जगमोहनसिंह

(सं० १९१४—१९५६)

ठाकुर साहब विजयराघवगढ़ ( मध्य-प्रदेश ) के राजकुमार थे। आप भारतेंदु जी के निकटतम मित्रों में से थे । आप हिंदी-साहित्य के अतिरिक्त संस्कृत तथा अँगरेज़ी के अच्छे ज्ञाता थे। आपकी शैली में अपनापन है। तड़क-भड़क न होने पर भी भाषा में सुंदरता का समावेश है। "ठाकुर जगमोहनसिंह जी ने नर-क्षेत्र के सौंदर्य को प्रकृति के और क्षेत्रों के सौंदर्य के मेल में देखा है।" (शुक्ल) विरामादि चिह्नों का प्रयोग आपकी भाषा में अपने पूर्ववर्तियों से अधिक मिलता है।

---

## पं० अंबिकादत्त व्यास

( सं० १९१५—१९५७ )

आप संस्कृत के अच्छे विद्वान् थे और आशु-कविता करने में अत्यंत निपुण थे। २४ घंटे में १०० श्लोक बना लेते थे। काशी की 'ब्रह्मामृत-वर्षिणी' सभा ने आपको 'घटिकाशतक' की उपाधि से विभूषित किया था। आपने संस्कृत में कई पुस्तकें लिखीं। आप हिंदी गद्य तथा पद्य दोनों ही लिखा करते थे। आपकी कविताएँ प्राचीन ढंग लिए हुए हैं परंतु कहीं कहीं पर नवीनता भी दिखाई पड़ती है। 'कंस-वध' नामक खड़ी बोली का काव्य आपने लिखा था

हिंदी-संसार में आपकी ख्याति 'विहारी-विहार' के लिखने के कारण हुई।

---

## पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी

(सं० १६२१—१६६५)

आपका जन्म पीलीभीत में हुआ था। आपके पिता फौज में अफसर थे। आपने हिंदी साहित्य की अपूर्व सेवा की है। यह कहना अत्युक्ति न होगा कि वर्तमान हिंदी-युग के निर्माता द्विवेदी जी ही थे। आपसे पूर्व भाषा अव्यवस्थित थी और व्याकरण का नियम नहीं था। आपने हिंदी को व्याकरण-संमत बनाया, भाषा का रूप परिमार्जित किया। 'सरस्वती' का संपादन करते हुए आपने बहुत-से नए लेखक पैदा किये।

अँगरेजी की ओर झुके हुए सैकड़ों नव-युवकों को हिंदी की ओर आकर्षित करने का श्रेय भी द्विवेदी जी को ही है। इनकी शैली में विशेष गुण यह है कि मार्मिक तथा गूढ़ातिगूढ़ विषय भी छोटे-छोटे ओजस्वी वाक्यों द्वारा स्पष्ट हो जाते हैं। आपने तीन प्रकार की गद्य शैलियों का प्रयोग किया है—व्यंगात्मक, आलोचनात्मक एवं गवेषणात्मक। इसका परिणाम यह हुआ कि भाषा की शुद्धता और एक-रूपता स्थिर हो गई तथा इन शैलियों से अनेक लेखकों को गद्य का मार्ग सुझाया गया। द्विवेदी जी की समालोचनाएँ निर्णयात्मक होती

[illegible] हिंदी के कुछ [illegible] थी।

---

## पं० पद्मसिंह शर्मा

(सं० १९३३—१९८९)

आप अपने जीवन में कभी निराश नहीं हुए, प्रसन्न रहना तो आपके जीवन का एक अंग था। आप हिंदी, संस्कृत एवं फारसी के विशारद थे। नवीन पुराणों का आदर करना तो मानो आपने अपने जीवन का लक्ष्य ही बना रखा था। ईश्वरीय विश्वास को आप अपने जीवन का सार समझते थे, यहाँ तक कि रुग्णावस्था में भी खाने-पीने का कुछ परहेज न करते थे। अंतिम दिन तक भी आगरे से पेठे की मिठाई का पारसल आया था। आपके पास बैठने वाले दुखी मनुष्य भी अपना दु:ख भूल जाते थे। तुलनात्मक समालोचना क्षेत्र में क्रांति उत्पन्न करने का श्रेय शर्मा जी को ही है। इनकी आलोचनात्मक भाषा में कठिन उर्दू और संस्कृत शब्दों का प्रयोग रहता है। इस कारण इनकी भाषा चुटीली होती हुई भी कहीं-कहीं सर्व-साधारण की समझ के बाहर हो जाती है। आपका बिहारी सतसई पर 'सजीवन-भाष्य' हिंदी-साहित्य की चिरस्थायी सम्पत्ति है। तुलनात्मक आलोचना की एक नवीन शैली के आप निर्माता हैं। शर्मा जी को इस कृति पर सं० १९८० में मंगला

नागपुर से निकलनेवाले हिंदी केसरी के आप पहले सहायक संपादक और फिर बाद में संपादक रह चुके हैं। सं० १९६८ में आप पटने से निकलनेवाले 'बिहारबंधु' के भी संपादक रह चुके हैं।

आप मराठी, बंगला, फारसी इत्यादि कई भाषाओं के ज्ञाता हैं। अनुवाद-क्षेत्र में आपने बहुत काम किया है।

---

## श्री चतुरसेन शास्त्री

(जन्म सं० १९४८)

श्री चतुरसेन शास्त्री का हिंदी साहित्य में प्रमुख स्थान है। आप आजकल देहली में रहते हैं। आपकी लेखनी मार्मिक भाव प्रदर्शन करने के लिए प्रसिद्ध है। "दुखवा मैं काहे कहूँ मोरी सजनी!" आपकी प्रसिद्ध कहानी है। आपने कई विषयों पर लिखा है।

शास्त्री जी की प्रायः सभी रचनाओं में [illegible]

---

आपने सर्व-प्रथम कहानी लिखी थी। आपने कुछ दिन उर्दू के 'भारत', 'चंद्र', 'आर्य-पत्रिका' 'आर्य-गजट' इत्यादि पत्रों का संपादन किया। कुछ समय तक आपने उर्दू का मासिक पत्र 'चंदन' भी निकाला था।

आजकल आप सिनेमा कंपनी में काम करते हैं। आपके तैयार किए हुए "रामायण" और "धूप छाओं" नामक चित्र-पट प्रसिद्ध हैं। आपको 'अंजना' (नाटक) और सुदर्शन-सुधा (गल्प-संग्रह) पर पंजाब-टेक्स्ट-बुक कमेटी द्वारा पारितोषिक मिल चुका है। 'भाग्य-चक्र' नाटक भी आपका अच्छा नाटक है। आपकी भाषा में अपनापन है, भाषा शुद्ध तथा परिमार्जित है। अधिक पाठक बिना नाम के ही आपकी कृति पहचान सकते हैं। आपकी कहानियों के कुछ संग्रह छप चुके हैं—'नवनिधि', 'तीर्थ-यात्रा', 'सुदर्शन-सुधा', 'पनघट' इत्यादि।

---

## पांडेय बेचन शर्मा 'उग्र'

(जन्म सं० १९५२)

उग्र जी का जन्म-स्थान चुनार (ज़िला मिर्ज़ापुर) है। आपकी भाषा ओजस्विनी तथा मार्मिक है। [illegible] की उक्ति आपके विषय में पूर्णतया चरितार्थ [illegible] है। आपने [illegible] शैली में विशेष चमत्कार उत्पन्न कर दिया है। [illegible] प्रवाहिता ने [illegible] को [illegible] बना दिया है। उग्र जी की स्वाभाविक भाषा में व्यावहारिक शब्दों का प्रयोग रहता भी

हुआ है। स्थान स्थान पर उर्दू अँगरेज़ी शब्दों का भी प्रयोग हुआ है परंतु वह अस्वाभविक नहीं मालूम पड़ता। कहीं-कहीं पर भाषा अलंकृत भी हो गई है। वास्तव में उग्र जी की शैली इस युग में अपना विशेष अस्तित्व रखती है।

---

## श्री गुलाबराय

(जन्म सं० १९४४)

आप आज-कल आगरे में रहते हैं। आप छतरपुर रियासत में कई ऊँचे पदों पर काम कर चुके हैं। आरंभ में आपने दर्शन-शास्त्र का अध्ययन किया। आपने तर्क-शास्त्र, कर्त्तव्य-शास्त्र, पाश्चात्य दर्शनों का इतिहास, साहित्य के नवरस आदि विषयों का भी अच्छा मनन किया है। इन विषयों पर आपने ये ग्रंथ लिखे हैं:—'कर्त्तव्य-शास्त्र', 'तर्क-शास्त्र' (भाग १—३)। तर्क-शास्त्र के पहले दो भागों में पाश्चात्य तर्क-शास्त्र की विवेचना की गई है, और तीसरे भाग में भारतीय तर्क-शास्त्र का वर्णन है। "विज्ञान-वार्ता" नाम की पुस्तक आपकी एक लाभप्रद पुस्तक है। निबंध-लेखकों में आपका अच्छा स्थान है। आपने साहित्यिक और विचारात्मक दोनों तरह के निबंध लिखे हैं। आपका एक निबंध-संग्रह प्रबंध-प्रभाकर नाम से प्रकाशित हुआ है। आज-कल आप आगरे से निकलने वाले 'साहित्य-संदेश' के संपादक हैं और सेंट जॉन कालेज आगरा में हिंदी के प्रोफेसर हैं।

---

## श्री जयशंकर 'प्रसाद'
(सं० १६४७—१६६४)

'प्रसाद' जी का जन्म सं० १६४७ में काशी के कान्यकुब्ज वैश्य जाति के धनाढ्य कुल में हुआ था। आपको संस्कृत, अँगरेजी, उर्दू-फ़ारसी आदि का अच्छा ज्ञान था। आप छोटी आयु में ही सुंदर रचना किया करते थे। बाद में आपने कहानियाँ, नाटक और उपन्यास लिखना प्रारंभ किया। आप एक सफल गल्प लेखक तथा निपुण नाटककार थे। हिंदी में छायावाद तथा भिन्न-तुकांत कविता के आप निर्माता समझे जाते हैं। आपकी लेखनी भावप्रधान है।

आप इतिहास की उन कथा-वस्तुओं को लेते थे जिनका सर्व-साधारण को पता भी न था। फिर उसी को एक नवीन रूप देकर चित्ताकर्षक बना देते थे। 'प्रसाद' जी की भाषा में मुहावरों का अभाव है और संस्कृत शब्दों की अधिकता है। अतः भाषा में जटिलता आगई है। तथापि इनकी भाषा सुंदर और परिमार्जित है। आपके नाटकों में दोष यह है कि रंगमंच पर उनका अभिनय नहीं हो सकता। आपने उपन्यास भी अच्छे लिखे हैं। 'तितली' और 'कंकाल आपके प्रसिद्ध उपन्यास हैं। 'कामायनी' पर आपको हिंदी-साहित्य-सम्मेलन की ओर से पारितोषिक मिल चुका है। आपके नाटक ये हैं—विशाख, जनमेजय का नागयज्ञ, चन्द्रगुप्त, राज्यश्री, स्कंदगुप्त। आपके चार गल्प-संग्रह हैं - प्रतिध्वनि, आँधी, आकाशदीप, छाया। 'कंकाल और 'तितली' आप के उपन्यास हैं।

। आप कवि होने के साथ साथ अच्छे आलोचक हैं। आपकी आलोचनाओं की साहित्य में बड़ी धाक है। आपकी भाषा परिमार्जित और अभिव्यंजनात्मक होती है। आप गद्य-काव्य भी लिखते हैं। आपकी आलोचना-संबंधी पुस्तक 'साहित्यकला' अच्छा ग्रंथ है।

---

## श्री सियारामशरण गुप्त

(जन्म सं० १९५२)

आपका जन्म चिरगाँव जिला झांसी में हुआ। आप सुप्रसिद्ध कवि मैथिलीशरण गुप्त के छोटे भाई हैं। आपकी कृतियों में करुण रस प्रवाहित हुआ है। आपकी मार्मिक उक्तियाँ पाठकों को [illegible] कर लेती हैं। हिंदी-साहित्य में आपकी कहानियों को [illegible] अच्छा आदर मिला है। 'नारी' आदि उपन्यास भी [illegible] हैं। दृश्यों के चित्र अंकित करने में आप अत्यंत निपुण हैं। [illegible] नाम से आपके निबंधों का संग्रह अभी प्रकाशित हुआ है। [illegible] मुख्य रचनाएँ 'मौर्य-विजय', 'आर्द्रा', 'दूर्वादल', [illegible]

---

## श्रीमती महादेवी वर्मा

(जन्म सं० १९६८)

आप प्रयाग में महिला विद्यापीठ की प्र[illegible]
समय 'चाँद' की सम्पादिका रह चुकी हैं।
अनुपम कवित्व का प्रसाद भेंट किया है

मौलिकत्व की छाप रहती है। आपको नाट्य-सुधा पर पंजाब-टैक्स्ट-बुक-कमेटी द्वारा पुरस्कार भी प्राप्त हुआ है। आप हिंदी के बड़े उत्साही लेखक हैं। ( उदयशंकर भट्ट )

---

## श्री भगवतीप्रसाद वाजपेयी

(जन्म सं० १६५४)

श्री वाजपेयी हिंदी के भावना-प्रधान कहानी-लेखकों में हैं। वाजपेयी जी की कहानियों में श्रेष्ठ कला का लक्ष्य "एको रसःकरुण एव" ही रहता है। उन्हें बार-बार पढ़ने को जी भी चाहता है, चित्त ऊब नहीं जाता। ज्ञान की बातें भी होती हैं परंतु इनमें लेखक के हृदय को स्पर्श करने की शक्ति है। आपने बहुत-सी कहानियाँ लिखी हैं जो 'हिलोर' और 'पुष्करिणी' नाम से प्रकाशित हुई हैं। 'पतिता की साधना' और 'दो बहनें' नाम के दो उपन्यास भी प्रकाशित हुए हैं। इन ग्रंथों का हिंदी-संसार ने अच्छा आदर हुआ है। आप कवि के साथ-साथ नाटककार भी हैं। 'छलना' नाम का एक नाटक आपका प्रकाशित हुआ है। वाजपेयी जी पुराने कलाकार हैं।

---

## श्री हरिकृष्ण 'प्रेमी'

( जन्म सं० १६६४ )

आपका जन्म गुना रियासत ग्वालियर में हुआ था। कुछ